



क्रान्ति का महानायक शचीन्द्रनाथ सान्याल

घोर विपत्तियों को सहन करते हुए कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलने वाला वीर ही क्रान्ति के पथ पर चल सकता है। इस मार्ग के अनुगामियों की संख्या वे हिसाब होते हुए भी कुछ साहसी और बुद्धिमान लोग वे थे जो इन वीरों के संगठन का संचालन करते थे। उन्हें दिशा-निर्देश देते थे और उनके लिए कार्यक्रमों की व्यापक योजना तथा उनके क्रियान्वयन की विधियां बनाया करते थे। ऐसे ही परम साहसी देश पर मर मिटने वाले नवयुवकों में अग्रणी थे शचीन्द्रनाथ सान्याल। उन्होंने भारत के मुक्ति-संवर्ष में अदम्य साहस, दृढ़ संकल्प, शौर्य और उत्सर्ग का परिचय दिया।

शचीन्द्र का जन्म 3 अक्टूबर, 1893 को बनारस में हुआ था। वह चौदह वर्ष की आयु में ही बंगाल की प्रसिद्ध क्रान्तिकारी संस्था अनुशीलन के सदस्य बन गये और उन्होंने 1907 में बनारस में अनुशीलन समिति की शाखा स्थापित की। उक्त संस्था के गैरकानूनी घोषित किये जाने पर शचीन्द्र ने उसका नाम युवा संघ रखकर उसकी गतिविधियों को जारी रखा। कुछ समय पश्चात् पुलिस ने युवा संघ की गतिविधियों की रिपोर्ट तत्कालीन अंग्रेज डिप्टी कलेक्टर को दी, परिणामतः युवा संघ को भी गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

जब सन् 1914 में रासबिहारी बोस की पुलिस द्वारा तलाश की जा रही थी तब वे हार्डिंग बम केस के अभियुक्त न बनाये जाने के उद्देश्य से शचीन्द्रनाथ सान्याल के बनारस स्थित मकान में अज्ञातवास करते रहे। रासबिहारी बोस और शचीन्द्र उन दिनों युवा संघ के सदस्यों को बम बनाने का प्रशिक्षण देते रहे और उन्हें छापामार बम के लिए भी तैयार करते रहे।

रासबिहारी बोस के निर्देश पर शचीन्द्र लाहौर गये जहां उन्होंने गटर पार्टी के अमेरिका तथा कनाडा से लौटे क्रान्तिकारियों से सम्पर्क किया और भविष्य में की जाने वाली क्रान्ति का विशद परिचय दिया। इन क्रान्तिकारियों में सोहनसिंह मखना, करनार ह सरावा और बाबा पृथ्वीसिंह आजाद प्रमुख थे।

झांसी वाले पण्डित परमानन्द के साथ मिलकर रासबिहारी बोस व शचीन्द्रनाथ सान्याल ने 21 फरवरी, 1915 को देशभर में सैनिक क्रान्ति की योजना बनाई। कई जी छावनियों की रेजीमेण्ट क्रान्ति के लिए तैयार हो गई थी। दुर्भाग्य से किसी कारण ने क्रान्ति का भेद खोल दिया जिससे क्रान्तिकारियों की योजना विफल हो गयी।

अंग्रेजों ने जोरदार धर-पकड़ शुरू कर दी। बोस और शचीन्द्र अंग्रेजी पुलिस के काबू में न आ सके।

इतिहासप्रसिद्ध लाहौर पडयन्त्र केस चला जिसमें चौसठ क्रान्तिकारियों को फांसी व सैकड़ों अन्य क्रान्तिकारियों को कालेपानी की सज़ा हुई। होनहार ने अपना गुल खिलाया और कुछ महीने बाद शचीन्द्र को उनके घर बनारस में ही गिरफ्तार कर लिया गया। हथकड़ी-बेड़ी पहनकर जब शचीन्द्र लाहौर ले जाये जा रहे थे तो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो मातृ-मन्दिर में कोई पुजारी खड़ताल की ध्वनि करता जा रहा है। लाहौर में शचीन्द्र पर मुकदमा इसलिए नहीं चला क्योंकि पुलिस ने किसी रवीन्द्र को शचीन्द्र समझकर पकड़ा, अतः शिनाख्त ठीक नहीं हो पायी। शचीन्द्र और रवीन्द्र रिहा कर दिये गये परन्तु जेल से निकलते ही उन्हें पुनः गिरफ्तार कर लिया गया और रवीन्द्र को नजरबन्द कर गोरखपुर भेज दिया गया।

शचीन्द्र के भाई जितेन्द्र पर मुकदमा चला किन्तु उनके चौथे भाई भूपेन्द्र पर इसलिए मुकदमा नहीं चलाया गया कि वह उस समय केवल आठ वर्ष का था। मुकदमे की समाप्ति पर शचीन्द्र को आजीवन कालापानी और जितेन्द्र को दो वर्ष की कठोर कारावास की सज़ा सुनाई गयी। विशेष ट्रिब्यूनल के मुख्य न्यायाधीश जस्टिस डेनियाल ने जैसे ही सज़ा सुनाई शचीन्द्र ने बड़े धैर्यपूर्ण शब्दों में कहा—“आपकी अदालत द्वारा दोषी पाये जाने पर भी मैं अपने आपको निर्दोष समझता हूँ। मुझे विश्वास है कि मनुष्यों व राष्ट्रों के भविष्य पर शासन करने व उन पर नियन्त्रण रखने के लिए आपके इन ट्रिब्यूनलों से भी अधिक शक्तिशाली सत्तायें इस संसार में हैं।”

शचीन्द्र का बनारस वाला मकान व उनकी चल सम्पत्ति सरकार द्वारा जब्त कर ली गई और उन्हें अण्डमान की एक काल कोठरी में डालकर कैद कर दिया गया। पुलिस ने शचीन्द्र की विधवा माता व उनके भाई भूपेन्द्र को भी बिना कुछ उठाये घर से बाहर निकाल दिया। जगह-जगह भटकने के बाद एक महिला ने उनकी दशा पर तरस खाकर उन्हें अपने घर में आश्रय दिया। पुलिस उस महिला की भी दुश्मन बन गयी और उसे भी डरा-धमकाकर इन असहाय लोगों को घर से निकालने पर मजबूर करने लगी। उस दयावान महिला को परेशान होते देख शचीन्द्र की माँ और छोटा भाई भूपेन्द्र एक दिन बनारस छोड़कर कहीं और चले गये।

अण्डमान की काल कोठरी में शचीन्द्र पर तरह-तरह के जुल्म दिये गये। उनकी आँख पर पट्टी बांधकर तेल के कोल्हू में बैल की जगह जोत दिया गया जिससे उन्होंने आपत्ति की। वहाँ के नृशंस और बेलगाम जेलर मिस्टर बारी ने इस पर उनके बेहिस्साव शारीरिक कष्ट दिये जाने की आज्ञा जारी की।

सन् 1942 में आम माफ़ी कानून के अन्तर्गत शचीन्द्र को रिहा कर दिया गया जेल से छूटने के बाद शचीन्द्र ने पुनः क्रान्तिकारियों को संगठित करने का कार्य शुरू कर दिया। उन्होंने हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन की स्थापना की जिसके सद

सरकार के भय के कारण हत्या के अपराध में फंसे खुदीराम की पैरवी करने कोई वकील आगे नहीं आ रहा था। लेकिन एक व्यक्ति ने साहस किया। लोगों को आश्चर्य हुआ जब कालीचरण नामक वकील ने जज के सामने आकर कहा—“मैं इस युवक की ओर से पैरवी करूंगा। श्री कालीचरण ने कहा यह सही है कि मि० केनेडी की पत्नी और पुत्री की बम से हत्या हुई है लेकिन वह बम खुदीराम ने फेंका था इसका कोई प्रमाण नहीं है। कोई ऐसा गवाह अदालत में पेश किया जाये जिसने खुदीराम को बम फेंकते देखा हो। मुकदमे की सुनवाई की समाप्ति के बाद जज ने खुदीराम से पूछा—“तुम जानते हो तुम्हें क्या सजा मिलेगी?” खुदीराम ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया—“हां जानता हूँ मृत्युदण्ड। एक और मृत्युदण्ड का मैं अभिलाषी हूँ और वह है किंग्सफोर्ड की हत्या का।”

जज ने निर्णय दिया—“इस युवक को 6 अगस्त को फांसी पर लटका दिया जाए।” खुदीराम बोस ने कहा “मैं तो आज ही फांसी पर चढ़ने को तैयार हूँ।” मैं चाहता हूँ कि मैं बार-बार फांसी पर चढ़ता रहूँ और बार-बार जालिमों और बेईमानों का अन्त करता रहूँ।” इस नवयुवक के मुखमण्डल की आभा और देश के प्रति निष्ठा देखकर जज भी अवाक रह गया।

फांसी लगने से पूर्व खुदीराम जितने दिन जेल में रहे उनकी प्रफुल्लता बढ़ती ही गई। एक दिन जेलर ने उनके लिए पका हुआ एक आम भेजा। खुदीराम ने उसे अच्छी तरह चूसकर गुठली छिलके में डालकर उसे मुंह से फुला दिया। जब जेलर उधर आया तब यह कहकर कि मेरी तबीयत ठीक नहीं है, मैंने इसे नहीं खाया, जहां आम रखा था उस ओर इशारा कर दिया। जेलर ने आम के पास जाकर उसे उठाने का प्रयास किया। जेलर को ऐसा करते देख उसकी मूर्खता पर वहां उपस्थित अन्य कैदियों ने टहाका लगाया। जेलर लज्जित हो गया और खुदीराम की ओर देखकर बोला—“अरे लड़के मौत के मुंह में खड़ा होकर भी हंसी-मजाक कर रहा है और हमें तंग कर रहा है।”

निश्चित तिथि के 13 दिन बाद, अर्थात् 11 अगस्त, 1908 को इस देशभक्त को फांसी दे दी गई। इस प्रकार भारत मां का एक और सपूत देश की वलिवेदी पर चढ़ गया।

सैकड़ों लोग उनका पार्थिव शरीर लेने पहुंचे। सरकार ने शर्त लगाई कि शरीर तब दिया जाएगा जब लोग यह वचन दें कि शवयात्रा के दौरान किसी प्रकार का हल्ला-गुल्ला नहीं किया जाएगा। शर्त मान लिये जाने पर शव टे दिया गया। शव यात्रा के जुलूस के सारे मार्ग पर स्त्री-पुरुष और बच्चे शीश झुकाए और आंखों में आंसू भरे हाथ जोड़कर खुदीराम बोस के शव को नमन तथा श्रद्धांजलि भेंट कर रहे थे। लाखों लोगों की उपस्थिति में गंगा के पवित्र तट पर उनका अन्तिम संस्कार कर उनकी अस्थियों को पनितपावनी गंगा को सौंप दिया गया। महर्षि अरविन्द ने

उनकी मृत्यु पर कहा—“मैंने संसार के कई देशों के इतिहास पढ़े हैं और वहां के देशभक्तों के शौर्य की गाथाएं भी पढ़ी हैं, लेकिन खुदीराम की तरह उन्नीस वर्ष का ऐसा कोई नौजवान मुझे उन देशों के इतिहास में नहीं मिला जिसने अपने आप फ्रांसी का फन्दा गले में लटका लिया हो।”

महान स्वदेशानुरागी राजा महेन्द्रप्रताप

राजा महेन्द्र प्रताप भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के एक ऐसे सेनानी थे जिनके जीवन का अध्ययन किए बिना उस युग के इतिहास को भली भाँति समझना कठिन है। उन्होंने राजसी वैभव छोड़कर देश की स्वाधीनता के लिए स्वदेश और विदेश में रहकर अतुलनीय प्रयास किए। 20 वर्ष की नाजुक उम्र में ही उन्होंने अपने देश पर न्यौछावर होने का व्रत ले लिया था।

राजा महेन्द्रप्रताप का जन्म मुरसान (अलीगढ़) में 9 दिसंबर, 1886 को एक प्रसिद्ध जाट घराने में हुआ था। वे राजा घनश्यामसिंह के तृतीय पुत्र थे। वृन्दावन में राजाजी का लालन-पालन बड़े ठाट-वाट से हुआ। अलीगढ़ के "मोहम्मडन एंग्लो ओरियण्टल कॉलेज" (जो वाट में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में परिवर्तित हो गया) से उन्होंने एफ० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। सन् 1907 में जब वे बी० ए० के विद्यार्थी थे, नगर प्रदर्शनी में किसी विद्यार्थी की पुलिस से झड़प हो गई और अंग्रेज प्रिंसिपल ने उसे तीन साल के लिए कॉलेज से निकाल दिया। कॉलेज में जबरदस्त हड़ताल हुई। राजा महेन्द्रप्रताप को हड़ताल का नेता बनाया गया। उनके ओजस्वी भाषणों और ब्रिटिश सत्ता विरोधी विचारों के कारण, उन्हें भी कॉलेज से निकाल दिया गया। कुछ दिन तक वह आगरा में रहे किन्तु दिल और दिमाग से देश के प्रति समर्पित हो जाने के कारण अधिक दिन तक अपनी पढ़ाई जारी न रख सके।

महेन्द्रप्रताप के दिल पर अपने पिता तथा गुरु श्री अशरफ अली का विशेष प्रभाव था। उनके पिता एक तेजस्वी पुरुष थे जो अंग्रेजों से सतत संघर्ष करते रहे। दूसरी ओर मौलाना अशरफ अली एक सच्चे भारतीय मुसलमान थे जो जन्माष्टमी का व्रत रखते थे और गंगा-यमुना के जल को पवित्र मानते थे। युवक महेन्द्रप्रताप को स्वाभिमान और धर्मनिरपेक्षता का पाठ इन दो महान आत्माओं से ही मिला। अध्ययनकाल में ही उनका विवाह पंजाब की एक राजकुमारी से हो गया था। 1906 में जब उन्होंने अपने ससुर के समक्ष एक प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में वे भाग लेंगे तो उन्हें बताया गया कि ऐसा करने पर उनका उस राजघराने से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। राजा महेन्द्रप्रताप ने इसकी तनिक भी परवाह न की और अधिवेशन में शामिल हुए। वहाँ उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग की शपथ ली और विदेशी वस्तुओं की होली जलाई।

राजा साहब ने अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही देश के विभिन्न भागों की यात्रा शुरू कर दी थी जिससे वे देश और उसकी परिस्थितियों से नादान्य स्थापित कर सके। उन्होंने प्रमुख तीर्थस्थलों की भी यात्रा की। द्वारिका में पुजारी द्वारा पूछे जाने पर कि आपकी जाति क्या है उन्होंने कहा—“भंगी।” पुजारी तथा अन्य लोग बोले—“फिर तुम मन्दिर में प्रवेश नहीं पा सकते।” इस जानकारी के बाद कि राजा साहब उक्त जाति के नहीं, मन्दिर के प्रमुख व्यवस्थापक और स्थानीय गवर्नर ने उनसे क्षमा-याचना की। लेकिन राजा साहब उस से मस न हुए और बोले—“मैं ऐसे भगवान का दर्शन करना नहीं चाहता जो जन्म के कारण इन्सान का अपमान करता हो।”

17 अगस्त, 1917 को उन्होंने विश्व-यात्रा पर प्रस्थान किया। वे रोम, पेरिस, बर्लिन तथा लन्दन गये। उनकी इस यात्रा का एकमात्र उद्देश्य था भारत की स्वाधीनता। भारत लौटकर उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति एक वॉकेशनल कॉलेज की स्थापना में लगा दी। वृन्दावन के झूला त्योंहार पर उन्होंने अपने मित्रों और सम्बन्धियों को अपने ‘पुत्र’ का जन्मोत्सव मनाने का निमन्त्रण भेजा। इस अवसर पर ५० मदन मोहन मालवीय सहित अनेक गणमान्य व्यक्ति पुत्र के लिए उपहार लेकर आये थे। राजा साहब ने कॉलेज की ओर इशारा करके कहा—“यह मेरा पुत्र है और इसका नाम है ‘प्रेम महाविद्यालय’। सभी उपहार और अपने पाँच गाँव, जिनकी आय 33,000 रुपये प्रति वर्ष थी, दान देकर उन्होंने ‘प्रेम महाविद्यालय ट्रस्ट’ की स्थापना की। उन्होंने वृन्दावन के अपने महल में कॉलेज की और महारानी के महल में होस्टल की स्थापना की घोषणा भी कर दी।

31 वर्ष तक जर्मनी, स्विटजरलैंड, अफगानिस्तान, तुर्की, काबुल, यूरोप, अमेरिका, चीन, जापान, रूस आदि देशों में वे आजादी की अलख जगाते रहे। इस बीच अंग्रेज सरकार ने उनकी जायदाद कुर्क कर ली और उन्हें राजद्रोही घोषित कर दिया। 1 दिसंबर, 1915 को उन्होंने विदेश में भारत की स्थायी सरकार की स्थापना की जिसमें मौलाना वरकत अली को प्रधानमंत्री बनाया गया और राजा साहब को प्रेसीडेंट। राजा साहब ने रूस के महान नेता लेनिन से भेंट की और एक विशेष उद्देश्य से रूस के सम्मेलन में शामिल होकर अफगानिस्तान भी गये। पेरिस के एक अधिकारी ने जापान यात्रा की सुविधाएँ जुटाने से पहले कहा—“आप अपने दुश्मनों के साथ हैं।” आपने तुरन्त उत्तर दिया, —“मैं अंग्रेजी साम्राज्य से लड़ने के लिए राक्षसों के पास भी जा सकता हूँ।”

सन् 1925 में उन्होंने न्यूयार्क में नीग्रो लोगों की स्वाधीनता का समर्थन करते हुए एक क्रान्तिकारी भाषण दिया। इसी वर्ष चीनी जनता और ब्रिटिश सेना में ज़ोरदार संघर्ष हुआ। उन्होंने श्रीमती सनयातसेन के साथ एक आम सभा में ब्रिटिश विरोधी भाषण दिया। जापान यात्रा के दौरान वे महान क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस के अतिथि भी रहे। सितम्बर, 1938 में उन्होंने भारत के लिए एक सैनिक बोर्ड का गठन किया

जिसमें वे अध्यक्ष, रासबिहारी बोस उपाध्यक्ष तथा आनन्द मोहन सहाय महामन्त्री थे। बोर्ड का उद्देश्य जल्द से जल्द भारत को आजादी प्राप्त कराना था।

द्वितीय विश्वयुद्ध में अन्य देशभक्तों के साथ राजासाहब भी बन्दी बना लिए गये किन्तु राष्ट्रीय नेताओं के प्रयासों के फलस्वरूप उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया और अगस्त, 1945 में वे पानी के जहाज द्वारा मद्रास पहुँचे। राजा महेन्द्रप्रताप देश के जिस कोने में भी गए, जनता ने उस परमतपस्वी क्रान्तिकारी का खुले दिल से स्वागत किया। उनके दर्शनों के लिए लोग लम्बा रास्ता तय कर पहुँचते थे। भारतवासी जानते थे कि क्रान्ति के इस उपासक ने देश के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है। वह संकटों और मौत के थपेड़ों से जूझता भारत से अंग्रेजों को हटाने में लगा रहा। उसने कितनी ही रातें भूख-प्यास को सहते हुए बिताई, कितनी ही पैदल यात्रा की तथा शीत और गर्मी के भीषण प्रकोप को सहन किया।

राजा महेन्द्रप्रताप का पुण्य स्मरण और उनके बताये उद्देश्यों को पूर्ण करके ही हम उनके ऋण से उऋण हो सकते हैं।

परम पराक्रमी पण्डित परमानन्द

स्वार्थरहित होकर शास्त्र और शास्त्र की अदम्य उपासना करने वाला ही सच्चा वीर और सच्चा पण्डित होता है। इस कोटि के परम वीर और महान विद्वान पण्डित परमानन्द हमारे देश के ही नहीं सभी देशों के क्रान्तिकारियों के आराध्य हैं। व्यवस्था के सुख-भोग और सत्ता के आतंक की परवाह किए बगैर उन्होंने एक लम्बे समय तक क्रान्ति का संचालन कर हमारे इतिहास में एक ऐसे अध्याय का सूत्रपात किया जिसका ध्यान कर आज हम अपने आपको गौरवान्वित महसूस करते हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन पूंजीवादी समाज और 'एस्टाब्लिशमेंट' द्वारा स्थापित मूल्यों की समग्र अस्वीकृति था। यही कारण है कि वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व और उसके पश्चात् भी वेदनापूर्ण जीवन ही व्यतीत करते रहे।

पण्डितजी ने किशोर अवस्था से ही वेदना-भोग और विद्रोह को ईमानदारी, और स्वाधीनता को आत्मनिर्वासन और आत्मविमुक्ति को पूंजीभूत रूप में अपनी अस्मिता माना। आज हम सभी अपने-अपने स्थान पर संगठित बुराइयों या अनिष्टों के तथ्य को अस्वीकार करते हैं फिर भला हम क्यों नहीं मानते कि संगठित बुराई के लिए संगठित आन्दोलन अथवा सामाजिक क्रान्ति के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। यह रास्ता ही पण्डितजी का रास्ता था। इसी पर चलकर हम वास्तविक स्वाधीनता का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। समय आ गया है जब हम इस निर्मम सत्य को अपनायें और चारों ओर फैली हुई सामाजिक त्रासदी को क्रान्ति की ओर ले जायें।

इस क्रान्ति में हमारे सामने आयेंगे विद्रोह न करके तटस्थता एवं उदारतावादी—अवसरवादी खिलाड़ी जो सुरक्षा कवच पहने अपने दम्भाडम्बरों को सतर्कतापूर्वक ठके समाज को गुमराह करने की जी-तोड़ कोशिशें कर रहे हैं। दोगले व्यक्तित्व वाले इन लोगों की चालों को निरस्त कर एक शोषणहीन समाज की रचना करना ही पण्डितजी के मार्ग पर चलना है और सम्मानित करना है, बाकी सब व्यर्थ है।

पण्डित परमानन्द ने स्वयं एक लम्बी लड़ाई में अनेक क्रान्ति-स्तम्भ स्थापित किये। विन्ध्यभूमि को जहां महाराजा छत्रसाल और महारानी लक्ष्मीबाई की क्रीड़ा-स्थली होने का गर्व है वहां साथ ही उसे महापराक्रमी पण्डित परमानन्द को जन्म देने और उन में स्वातन्त्र्य की उत्कट भावना भरने का भी श्रेय प्राप्त है। एक मध्यवर्गीय श्रीवास्तव

परिवार में जन्मे पण्डितजी की प्रारम्भिक शिक्षा हमीरपुर जिले की राट तहसील में हुई। तत्पश्चात् वे इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला में प्रवेश ले, वास्तविक शिक्षा-प्राप्ति में लग गये। देश की दुर्गति के समय सुख-सुविधा-भोगी विद्यार्थी होना उन्हें गवारा न था। वे इतिहास पढ़ते-पढ़ते इतिहास लिखने वाली शिक्षा की ओर अग्रसर होने लगे।

उन दिनों सारे देश में आजादी की चिनगारी सुलग रही थी। उनके वीरतापूर्ण और देशभक्तिपूर्ण हृदय में स्वातन्त्र्य प्रेम के बीज विद्यमान थे ही और अनुकूल वातावरण पाकर वे विकसित होने लगे। परिणामतः परमानन्द जी ने होश संभालते ही देश को आजाद करने अथवा उसमें अपना सर्वस्व लुटा डालने की भीष्म प्रतिज्ञा कर ली थी।

प्रारम्भ से ही पण्डितजी को पग-पग पर देश का अपमान अखरने लगा। मातृभूमि का ध्यान करने पर जंजीरों से जकड़ा, पराधीन, अपमानित, लुटा हुआ, निःशक्त भारत उनकी आंखों के आगे आ जाता था। उनका कोमल हृदय धीरे-धीरे सख्त होने लगा और देश की स्वतन्त्रता के लिए जीवन अर्पण करने का उनका निश्चय धीरे-धीरे दृढ़ होता गया। वे समय-समय पर अपने देशवासियों में स्वातन्त्र्य-प्रेम का भाव जाग्रत करने लगे। एक-एक व्यक्ति के पास बैठकर वे उन्हें घंटों समझाते कि पराधीन जीवन से मृत्यु कहीं हजार दर्जे अच्छी है। कार्य आरम्भ होने पर कुछ और लोग उनके साथ आ मिले। सबने तन-मन-धन देश की स्वतन्त्रता पर निछावर करने की प्रतिज्ञा की। धड़ाधड़ सभायें होने लगीं। कार्य होता रहा और क्षेत्र तैयार होता गया।

जिन दिनों परमानन्द जी ने होश संभाला उन दिनों लाला हरदयाल, सूफ़ी अम्बा प्रसाद और रासबिहारी बोस विदेशों में रहकर गदर पार्टी की गतिविधियों को तेजी से चलाने में लगे हुए थे। क्रान्तिकारी लोग चाहते थे कि अंग्रेजी हथियार छीन लिए जायें और उन्हें मार डाला जाये।

पण्डित परमानन्द ने बम बनाने का नुस्खा हासिल किया और बम बनाने प्रारम्भ कर दिये। अंग्रेजी सरकार ने उन्हें कैद कर लिया और 'डेंजरस' यानी खतरनाक कैदी के रूप में हिन्दुस्तान से बाहर ले जाकर बन्द कर दिया। अन्दमान का जेलर बारी बड़ा क्रूर अंग्रेज था। वह भारतीय कैदियों से कोल्हू चलवाता था। बेड़ी हथकड़ी डालकर आठ-आठ घण्टे खड़े रखता था। कोठरियों में दिन में भी रात रहती थी। कैदियों को गाली दी जाती थी और पीटा जाता था।

पण्डितजी ने एक बार मिस्टर बारी को कुछ कठिनाई बताई तो वह गुरीन लगा। पण्डितजी भला यह कैसे बर्दाश्त करते। उन्होंने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी आशुतोष लाहिड़ी को इशारा किया और जेलर बारी को उठाकर जमीन पर दे मारा। इस रणबांकुरे ने अपनी आयु के लगभग 34 वर्ष साम्राज्यवाद की जेलों में भीषण यातनाओं में बिताये किन्तु हार न मानी।

जिन दिनों पण्डितजी सिंगापुर में कैद थे उस समय वहां दो हिन्दुस्तानी रेजीमेण्ट नैनात थीं। पण्डितजी ने ऐलान किया कि 21 फरवरी, 1915 को क्रान्ति-दिवस मनाया जायेगा। परमानन्द जी ने उस दिन अद्वितीय वक्तव्य शक्ति का प्रमाण दिया। कैदियों की भुजायें फड़क उठीं। उन्होंने गुलामी की जंजीरों को तोड़ फेंका। लगातार सात दिन तक सिंगापुर पर इन गदर पार्टी वालों का राज्य रहा। दुर्भाग्य है कि सिंगापुर भारत के अन्दर नहीं था। अन्यथा क्रान्ति की यह चिनगारी सारे भारत में फैल जाती और उस अग्नि में ब्रिटिश साम्राज्य दग्ध हो जाता। बड़ी मुश्किल से रूसी, जापानी और अंग्रेजी जंगी जहाजों की सहायता से यह गदर दबाया गया। जिस देश व जिस जाति में पण्डित परमानन्द जैसे वीरों को जन्म देने की क्षमता है वह देश धन्य है। क्रान्तिपुंज इस प्रणम्य पुरुष का यह देश करोड़ों वर्षों तक ऋणी रहेगा। गंगा-यमुना की जल धाराएं अनन्तकाल तक ऐसे ही परम वीरों के जौहर गाती रहेंगी। चाहे, देश की सरकारें उन्हें याद रखें या भुला दें।

शहीद-शिरोमणि गणेशशंकर विद्यार्थी

“मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूँ चाहे वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद की हो या नौकरशाही की, ज़मींदारों की हो या राजाओं की, धनवानों की हो या तथाकथित ऊँची जातियों की।” ये शब्द हैं हमारे राष्ट्रीय संग्राम के अग्रिम योद्धा और सर्वस्व बलिदानी श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के। आज विद्यार्थीजी के शब्दों का महत्त्व इस अर्थ में ऐतिहासिक हो गया है कि अनेक विचारशील व्यक्ति अब उनके शब्दों और विचारों का उद्धरण देने लगे हैं। लोकमत की दृष्टि से उनका अभिमत प्रामाणिक एवं अधिकाधिक अभिव्यक्ति का प्रतीक बन चुका है। राष्ट्रमुक्ति के लिए किये जाने वाला प्रत्येक कार्य देश की प्रगति और समृद्धि की ओर ले जाने वाला प्रत्येक आन्दोलन, सामाजिक सुधार द्वारा नवीन समाज की रचनाओं का प्रत्येक प्रयास आम जनता में अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति जागरूक करने वाला प्रत्येक सन्देश—यह सब जन-जागरण उनका मूलमन्त्र था। उत्तर भारत के लगभग सभी क्रान्तिकारी—आजाद, बिस्मिल, अशफ़ाक इत्यादि उनके सान्निध्य से धन्य हुए। पंजाब से कानपुर आए भगतसिंह को दीक्षा देते हुए विद्यार्थीजी ने कहा था—

नौजवान! देखो आजादी के लिए काम करना एक परवाने की तरह होता है। जो शमा से प्यार करता है वह शमा की लपटों में जलकर मर जाता है। वह कभी लौटकर दूसरे परवानों को नहीं बता पाता कि शमा किस प्रकार जलती है और वह भी उसमें जलकर मर सकते हैं।”

भगतसिंह का उत्तर था—“मैं ऐसे ही जल मरने का दृढ़ संकल्प लेकर आपके पास आया हूँ।”

विद्यार्थीजी ने पुनः कहा कि देश सेवा के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि तुम सभी प्रलोभनों से परे रहो।

उपरोक्त परामर्श सुनने के पश्चात् भगतसिंह विद्यार्थीजी के सम्मुख नतमस्तक हो गये और आगे बढ़ते हुए उन्होंने विद्यार्थीजी का चरण स्पर्श किया। उन्होंने अपना कल्पित नाम बलवन्त सिंह रखकर प्रताप प्रेस में कार्य करना शुरू कर दिया। यहीं भगतसिंह का सम्पर्क वटुकाेश्वर दत्त, चन्द्रशेखर आजाद, जोगेशचन्द्र चटर्जी, विजय कुमार सिन्हा आदि से हुआ।

विद्यार्थीजी कांग्रेसी होते हुए भी विचारधारा के स्तर पर सर्वहारा की चेतना के बहुत करीब थे। आज से 60-70 वर्ष पूर्व मानो कोई भविष्य दृष्टा हमसे कह रहा था—

“किसानों और मजदूरों का दुग आ गया है। थोड़ी राजनीति से अब काम नहीं चलेगा। अब विप्लव होगा, परिवर्तन की धारायें घूमेंगी, पुराने आततायीपन पर नाज गिरेगी।” विद्यार्थीजी का समर्पित भावना का जयनाद आज भी कितना सार्थक है। उन्होंने कहा था—“जो जाति अपनी ताकत के भरोसे दूसरी जाति को दबाती है या कुचलती है वह अत्याचार करती है। उसके जुल्म से देश में अनाचार, अन्याय, कायरता और फूट की वृद्धि होती है। साथ ही जो जाति हर मौके और हर काम में सन्तोषी बनकर मिटना और पीछे रहना अपना प्रारब्ध समझती है वह भी किसी तरह से कम अपराधी और कम दोषी नहीं हो सकती।”

देश की सामन्तवादी, पूंजीवादी शक्तियों, सम्प्रदायवादी सामाजिक एकाधिकार की ताकतें, सरकारी अफसरशाही, साम्राज्यवाद के पोषक इन सबका एक साथ मुकाबला करना विद्यार्थीजी का दैनिक कार्यक्रम था। उनके लिए बड़े-बड़े असौभाग्य, दबाव, भय, धमकियाँ, चुनौतियाँ, टण्ड, सबका प्रयोग किया गया किन्तु वे अछूत, अज्ञेय और अभय बने रहे। जब देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रवाह तितगामी हुआ तब उनकी बाणी रणभेरी का नाद बन गई। उनकी अन्तर-आत्मा ने जो विकास देश तथा लोकहित में उचित समझा उसे निर्भीकता से व्यक्त किया। उनकी दृष्टि में किसी महान व्यक्ति अथवा संस्था का जितना महत्त्व था उससे अधिक देश एवं आम जनता का था। उनकी दृष्टि कभी व्यक्तिमूलक नहीं रही। व्यक्ति का ही महत्त्व भी बढ़ा हो उसके विचारों से मतभेद रखकर लोकाचार के लिए उसका सम्पूर्ण कल्याण उसने सोचा ही नहीं था।

विद्यार्थीजी स्वाधीनता के दूरगामी लक्ष्य की ओर देख रहे थे। वह चाहते थे कि स्वाधीनता का अर्थ मुझ्झर लोगों का छोड़कर सिद्धों पर शासन न हो। अधिकतर केवल कागजों पर लिखे न हों और न ही नीतिनिर्वाहक अदालतों में दबे हों। विद्यार्थीजी एक व्यापक सामाजिक क्रान्ति का स्वप्न देख रहे थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा था—“यहाँ है बुद्धि पर दृढ़ डालकर पहले ईश्वर और आत्मा के नाम पर स्वार्थ सिद्धि के लिए लोगों को लड़ना-पीड़ना। मूर्ख लोग धर्म की दुहाई देते हुए और दान-दान बिस्तारते अपने प्राणी की बाजी लगाते और थोड़े से अधिपतिजन और भूत आदिमियों का आसन ऊँचा करने और उन्नत कर सकते हैं। ऐसा न हो कि गणेश जी किसी राजसौ परिवार से मान्य रखने दें। उनके पिता श्री जयलक्ष्मण श्रीबालन मुगावली ने मन्मथे अध्यापक श्री विष्णु साहनी की कमी कमी की कल पत्थरों का मार्ग अवलम्ब नहीं कर सक्ती।

विद्यार्थीजी का संघर्षमय जीवन कैसा था इसकी कल्पना भी आज दुर्लभ है। अपने गिम्मे हुए स्वास्थ्य के लिए वह कभी पुष्टिकारक भोजन न पा सके। घर में

स्थान की कमी से ज्वर की अवस्था में सार्वजनिक कार्य पूरा करने के लिए उन्होंने दोपहर वर्गीचों की बेंचों पर बिताई। अपने छोटे-छोटे बच्चों के लिए वह नियमित दूध भी न जुटा सके। पर इसके लिए उन्होंने न कभी चिन्ता की न शिकायत। बरसों जल की काली-काली दीवारों में बन्दी रहा शरीर अस्थि-पंजर हो गया किन्तु निश्चय अटल। विदेशी शासन की सिर पर लटकने वाली एक नंगी तलवार और उसके बीच निरन्तर खतरों से जूझते रहने की तैयारी। आखिर उनका अपराध क्या था? केवल इतना कि वे अन्याय के विरोधी थे।

स्वाधीनता-आन्दोलन में जो अवसरवादी प्रवृत्तियाँ थीं वे अप्रत्यक्ष रूप से और कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से साम्प्रदायिक शक्तियों को बढ़ावा देती थीं। इस अवसरवाद की विशेषता यह थी कि जन साधारण को संगठित करने के बदले वह साम्प्रदायिक नेताओं से सौदेबाजी करता था। ऊपर से देखने में 1920 का आन्दोलन हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता का भव्य उदाहरण था किन्तु इस भव्यता के नीचे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से समझौता करने की नीति छिपी थी। इस सन्दर्भ में विद्यार्थीजी द्वारा की गई आलोचना उल्लेखनीय है।

‘देश की स्वाधीनता के लिए जो उद्योग किया जा रहा था, उसका वह दिन निःसन्देह अत्यन्त बुरा था जिस दिन स्वाधीनता के क्षेत्र में खिलाफत—‘मुल्ला, मौलवियों और धर्मज्ञादियों’ को स्थान देना आवश्यक समझा गया। इस प्रकार से हमने उस दिन स्वाधीनता के क्षेत्र में एक कदम पीछे हटाकर रखा था। अपने उसी पाप का फल हमें आज भोगना पड़ रहा है। देश की स्वाधीनता के संग्राम ने ही मौलाना अबुलकाली और शंकराचार्य को देश के सामने दूसरे रूप में पेश किया, उन्हें अधिकांश शक्तिशाली बना दिया और हमारे इस कार्य का फल यह हुआ कि इस समय हमारे हाथों से ही बर्खास्त हुई इनकी और इनके लोगों की स्वाधीनता हमारी जड़ उखाड़ने और देश में सज्जदबी पागलपन, अप्रसन्न और उत्पात का राज्य स्थापित करने में सक्षम है।’

विद्यार्थीजी की कल्पना हमारे स्वाधीनता आन्दोलनों के लिए किन्ता अभय सिद्ध हुआ जैसे किसी अन्त्य मेढरा का नहीं।। शायद इसीलिए श्री कमलसिंहदास कटुदत्त ने कहा था :—

‘आज उस दिनके लुकेले शिरों किस्सा तो रहे हैं। लेकिन उसकी उदयनकाशा को प्रशान्त करने के लिए स्वयं आता ही कुछ मिलेगा? मजदूर पद्धत रहे हैं, लेकिन उन पीछड़ों का संगठन करेगा... आगे तो वो समय है जहाँ उसकी महत्ता होगी?’

विद्यार्थीजी को व्यक्तित्व की निष्पक्षता और प्रभाव की विस्तारशीलता का निरन्तर व्यक्तित्व था।। स्वयं विद्यार्थीजी ने कहा था :—

‘जद्यपि तबका संग्रहणों हमारे विरुद्ध रहे तब तबका हमने उससे पराजित न पाये।। मैं तो उनके इतना नकारक था कि समग्रता के स्वरूप अजगूज था।। भ्रष्टाचार मैं उनकी मुख्य स्मृति को श्रद्धापूर्वक भी अस्वीकृत नहीं कर पाया।।’

क्रान्ति युद्ध की महिला प्रणेता मदाम भीकाजी कामा

मदाम भीकाजी कामा देश के लिए समर्पित एक महान महिला थीं। उनके जीवन-काल में भी उनके भक्त और प्रशंसक उन्हें भारत माता कहकर पुकारते थे।

श्रीमती भीकाजी कामा का जन्म बम्बई के एक वैभवशाली पारसी परिवार में 24 सितम्बर, 1861 को हुआ था। उनके पिता श्री सौराबजी हीरे-जवाहरात के जौहरी थे, अतः उन्होंने अपनी लाड़ली बेटी को बहुत अच्छी स्कूली शिक्षा दी और उनका विवाह उस समय के विख्यात अधिवक्ता रूस्तमजी कामा से कर दिया। दुर्भाग्यवश उनके पति को राजनीति से चिढ़ थी जबकि श्रीमती कामा उग्र विचारों की राजनीति पसन्द करती थीं। पांच-छः वर्ष तक पति-पत्नी में तनाव की स्थिति रही और अन्त में श्रीमती कामा ने वैचारिक भिन्नता के कारण पति से तलाक ले लिया। जीवन भर उन्होंने कोई अच्छी साड़ी नहीं पहनी। उनकी पोशाक सादे कपड़े का एक लम्बा-सा चोगा होती थी।

1898 में बम्बई और उसके आस-पास प्लेग की महामारी फैली जिसने सैकड़ों लोगों की जान ले ली। अपने देशवासियों से प्रेम करने वाली भीकाजी कामा तुरन्त उनकी सेवा-सुश्रुता में जुट गई। उनके निकट सम्बन्धियों ने उन्हें ऐसा करने से रोका और कहा कि यह बीमारी जानलेवा है। श्रीमती कामा ने उत्तर दिया “उनकी सेवा न करना और भी बड़ी जानलेवा बीमारी है। सेवा करते-करते मर जाना मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी।”

लगातार काम करने और रोगियों की सेवा करने के कारण वे स्वयं बीमार हो गई और 1901 में चिकित्सा करवाने पेरिस चली गई। स्वस्थ हो जाने पर वे अकेली लन्दन पहुंची और श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा चलाये जा रहे राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगीं।

लन्दन प्रवास में उनका परिचय लाला हरदयाल और दादाभाई नौरोजी से हुआ। श्रीमती कामा ने निश्चय किया कि वह कुछ वर्ष विदेशों में रहें और वहीं से देश की आजादी की लड़ाई में योगदान देनी रहें। उन्होंने ऐलान किया कि जो भारतीय महिला राजनीतिक कार्यों के लिए विदेश आयेंगी उसे वह एक हजार रुपये की छात्रवृत्ति देगी और हर प्रकार से उसकी सहायता करेंगी।

1907 में जर्मनी के स्टुटगार्ट नगर में एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में बड़े साहस और उत्साह के साथ श्रीमती भीकजी कामा बोलने के लिए मंच पर गईं। उन्होंने अपनी जेब से तिरंगा झंडा निकाला और वहीं फहरा दिया। उन्होंने कहा, “यह है स्वाधीन भारतीय राष्ट्र का राष्ट्रीय ध्वज। भारतीय देशभक्तों के बलिदान से यह ध्वज पवित्र हो चुका है। मैं आपसे अनुरोध करती हूँ कि आप सब खड़े होकर भारत के इस राष्ट्रीय ध्वज का अभिवादन करें।” उपस्थित जन-समुदाय ने टोपी उतारकर और झुककर भारतीय ध्वज का अभिवादन किया।

यह ध्वज हरे, पीले और लाल रंग का था और इसके बीच में “वन्देमातरम्” लिखा हुआ था। इसी सम्मेलन में मदाम कामा ने एक प्रस्ताव भी रखा जिसमें यह बात कही गई कि दुनिया के सभी आजाद देशों को भारत के मुक्ति-आन्दोलन में सहयोग देना चाहिए। जो देश ऐसा करने से हिचकिचायेंगे वह साम्राज्यवादियों और तानाशाहों के समर्थक माने जायेंगे।

ब्रिटेन में रहकर श्रीमती कामा ने दादाभाई नौरोजी को ब्रिटिश पार्लियामेंट का मेम्बर चुने जाने में बहुत सहयोग दिया। दादाभाई नौरोजी पहले भारतीय थे जो ब्रिटिश पार्लियामेंट के लिए ब्रिटेन की जनता द्वारा चुने गए। अमरीका पहुंचकर मदाम कामा ने जगह-जगह जाकर भारत की आजादी की अलख जगायी। वे वहां जो भी भाषण देतीं उसकी प्रतियां स्वदेश अवश्य भेजतीं। वे भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के वीरों को केवल क्रान्ति का साहित्य ही नहीं भेजतीं बल्कि खिलौनों के पार्सल भी भेजतीं थीं। ये खिलौने और कुछ नहीं पिस्तौलें और रिवाल्वर होते थे। एक मुखविर के बयान के कारण जब श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा सरदारसिंह राणा पर मुकदमा चला तो वह पेरिस में ब्रिटिश कौंसिल के सम्मुख उपस्थित हुईं और बोलीं, “भारत में पिस्तौल और रिवाल्वर भेजने का काम मैंने किया है।” उनकी वहादुरी और स्पष्टवादिता को देखकर सारी दुनिया के लोग चकित रह गए। भारत में उनकी लाखों रुपये की सम्पत्ति जवाब कर ली गयी।

बीमारी और वृद्धावस्था के कारण वे भारत लौटना चाहती थीं, लेकिन बरतानिया सरकार की शर्त थी कि मदाम कामा अपने पिछले कारनामों के लिए उससे माफ़ी मांगें और भविष्य में राजनीति में भाग न लेने का वायदा करें। मदाम कामा ने स्पष्ट कहा कि देश की आजादी के लिए न मैं बूढ़ी हूँ और न बीमार, मैं अपनी आखिरी सांस तक भारत की स्वाधीनता के प्रति समर्पित रहना चाहती हूँ। अन्ततोगत्वा वे अत्यधिक बीमारी की हालत में भारत लाई गईं जहां उसी वर्ष, सन् 1936 में उनका देहान्त हो गया। भारत माता की इस वीरांगना ने न केवल अपने देश की महिलाओं को बल्कि देश से बाहर रहने वाली अनेक महिलाओं को स्वदेश हिन बलिदान होने की प्रेरणा दी थी।

महान स्वाधीनता सेनानी रासबिहारी बोस

जिस महापुरुष के जीवन में बचपन से ही विद्रोह, साहस और स्वातन्त्र्य प्रेम के बीज अंकुरित हो उठे थे और जिसने अकेले ही पूरे क्रान्तिकारी आन्दोलन का संचालन किया उसका नाम था रासबिहारी बोस। रासबिहारी बोस का जन्म 1881 में बंगाल के एक सम्पन्न कायस्थ परिवार में हुआ था।

वह बुद्धिमान और विद्वान होने के साथ ही शरीर से भी बहुत बलिष्ठ थे। बी० ए० पास करने के बाद वे सेना में भर्ती होना चाहते थे और ब्रिटिश सरकार के भारतीय सैनिकों को सशस्त्र क्रान्ति के लिए तैयार करना चाहते थे किन्तु उनका यह सपना साकार न हो सका क्योंकि ब्रिटिश सरकार बंगालियों से भयभीत रहती थी। बाद में स्वाधीनता-संग्राम के सेनानी व उसका प्रमुख सेनापति बनने का जो सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ वह हमारे देश के सौभाग्य का उदय ही कहा जायेगा।

सन् 1912 में बंगालियों के विद्रोही स्वभाव से डरकर अंग्रेज अपनी राजधानी दिल्ली ले आए। उन दिनों रासबिहारी बोस देहरादून के फारेस्ट रिसर्च ऑफिस में क्लर्क के पद पर कार्य कर रहे थे। वे देहरादून में रहकर राजस्थान, पंजाब और दिल्ली के क्रान्तिकारियों को संगठित करने और उनके कार्यक्रमों को निर्धारित करने का कार्य करते थे। दिल्ली दरबार से पहले लार्ड हार्डिंग का जुलूस चांदनी चौक पहुंचा तो रासबिहारी बोस की योजनानुसार बसंत कुमार विस्वास ने लार्ड हार्डिंग पर बम मारा। जुलूस तितर-बितर हो गया और वाइसराय लार्ड हार्डिंग घायल होने के कारण वापस मुड़ गये। अंग्रेज सरकार को पता चल गया कि भारत के बुद्धिजीवी वीर उसे इस देश में चैन से नहीं बैठने देंगे।

ब्रिटिश सरकार जान गयी कि रासबिहारी बोस नाम के एक नौजवान ने समूचे भारत में सशस्त्र क्रान्ति का व्रत लिया है और उस योजना का यह पहला चरण था। रासबिहारी बोस ने 4 मई, 1913 को एक पर्चा बांटा जिसमें बताया गया कि वह बमकाण्ड उस योजना की घोषणा मात्र है जिसके अन्तर्गत सारे भारत के स्वतन्त्रताप्रेमी लोग इकट्ठे होकर न केवल भारत को आजाद करायेंगे अपितु पूरे एशिया महाद्वीप से विदेशी ताकतों का सफाया कर देंगे।

बरनानिया सरकार ने अपनी खोजबीन तेज कर दी। रासबिहारी बोस के वारण्ट जारी किये गए, और उन्हें पकड़वाने के लिए 7500 रुपए का इनाम भी घोषित किया गया। गुप्तचर विभाग की सारी ताकत उन्हें पकड़ने में लगा दी गई किन्तु वे अंग्रेजों के हाथ न आये। उन्हीं दिनों एक अंग्रेजी पत्र ने अपने सम्पादकीय में लिखा, “रासबिहारी बोस अत्यधिक भीमकाय और बलवान व्यक्ति है, उसका लम्बा-चौड़ा शरीर किसी भी वेश में छिपना कठिन है। जाने कैसे वह सरकार की निगाह से ओझल होकर निकल गया।”

रासबिहारी घूमते-घामते बनारस पहुंचे और अपने क्रान्ति सम्बन्धी कार्यों में तल्लीन हो गये। पंजाब में गदर पार्टी के नेता श्री विष्णु गणेश पिंगले बनारस जाकर उनसे मिले और उन्हें पंजाब की गतिविधियों से अवगत कराया। उन्होंने रासबिहारी बोस को बताया कि उत्तर भारत में विद्रोह के लिए 4,000 क्रान्तिकारी अमेरिका से आये हैं और क्रान्ति शुरू होने पर 20,000 क्रान्तिकारी और आ जायेंगे। रासबिहारी बोस ने इस कार्य के लिए शचीन्द्रनाथ सान्याल को भेजा, और फिर कुछ दिन बाद स्वयं भी वहां पहुंच गये।

21 फरवरी, 1915 को पंजाब में क्रान्ति होनी थी। समूचे कार्य का जिम्मा करतारसिंह को सौंपा गया और विनायक राव को बम भेजने के लिए नियुक्त किया गया। सारी योजना पूरी कर ली गई। जैसे-जैसे क्रान्ति का दिन नजदीक आ रहा था, नौजवानों में सरफरोशी का जोश बढ़ता जा रहा था। लोग ज्वालामुखी फूटने का इन्तजार कर रहे थे। वे सोच रहे थे कि मातृभूमि की बेड़ियां अब सदा-सर्वदा के लिए कट जायेंगी।

मगर तभी एक कौमी गद्दार कृपालसिंह ने पंजाब सरकार को सारा भेद बना दिया। एकाएक धरपकड़ शुरू कर दी गई। बहुत से क्रान्तिकारी पकड़ लिये गए। पिंगले और रासबिहारी बोस टिमागी करिश्मे दिखाकर फरार हो चन्दर नगर के लिए रवाना हो गये। कोई उन्हें पहचान न सका। 23 मार्च, 1915 को पिंगले को पकड़ लिया गया। पिंगले उदभट देशभक्त थे। वे पीछे हटना अपना अपमान समझते थे और अपने आपको आज़ादी की आग में झोंक देना चाहते थे। रासबिहारी बोस के रोकने पर भी वे मेरठ उतर गये जहां एक कृतघ्न साथी ने उन्हें गिरफ्तार करवा दिया।

मुकदमा चला और पिंगले को फांसी का टण्ड दिया गया। फांसी से पहले उनसे पूछा गया कि वे क्या चाहते हैं, “उन्होंने कहा, ‘मेरे हाथ खोल दो, मैं प्रार्थना करना चाहता हूं।’ उनकी हथकड़ी खोल दी गई। उन्होंने प्रार्थना की, ‘जिस दिन के लिए मैं बलिदान दे रहा हूं वह दिन शीघ्र ही आये।’ इतना कहकर उन्होंने उछलकर फांसी के फंदे को स्वयं अपने गले में डाल लिया और अपनी इहलीला समाप्त कर ली। खुफिया रिपोर्ट में लिखा था, ‘पिंगले के पास जो बम थे वे इतने खतरनाक थे कि एक बम आधी छावनी को समाप्त कर सकता था।’”

महान स्वाधीनता सेनानी रासबिहारी बोस

जिस महापुरुष के जीवन में बचपन से ही विद्रोह, साहस और स्वातन्त्र्य प्रेम के बीज अंकुरित हो उठे थे और जिसने अकेले ही पूरे क्रान्तिकारी आन्दोलन का संचालन किया उसका नाम था रासबिहारी बोस। रासबिहारी बोस का जन्म 1881 में बंगाल के एक सम्पन्न कायस्थ परिवार में हुआ था।

वह बुद्धिमान और विद्वान होने के साथ ही शरीर से भी बहुत बलिष्ठ थे। बी० ए० पास करने के बाद वे सेना में भर्ती होना चाहते थे और ब्रिटिश सरकार के भारतीय सैनिकों को सशस्त्र क्रान्ति के लिए तैयार करना चाहते थे किन्तु उनका यह सपना साकार न हो सका क्योंकि ब्रिटिश सरकार बंगालियों से भयभीत रहती थी। बाद में स्वाधीनता-संग्राम के सेनानी व उसका प्रमुख सेनापति बनने का जो सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ वह हमारे देश के सौभाग्य का उदय ही कहा जायेगा।

सन् 1912 में बंगालियों के विद्रोही स्वभाव से डरकर अंग्रेज अपनी राजधानी दिल्ली ले आए। उन दिनों रासबिहारी बोस देहरादून के फारेस्ट रिसर्च ऑफिस में क्लर्क के पद पर कार्य कर रहे थे। वे देहरादून में रहकर राजस्थान, पंजाब और दिल्ली के क्रान्तिकारियों को संगठित करने और उनके कार्यक्रमों को निर्धारित करने का कार्य करते थे। दिल्ली दरबार से पहले लार्ड हार्डिंग का जुलूस चांदनी चौक पहुंचा तो रासबिहारी बोस की योजनानुसार वसंत कुमार विस्वास ने लार्ड हार्डिंग पर बम मारा। जुलूस तितर-बितर हो गया और वाइसराय लार्ड हार्डिंग घायल होने के कारण वापस मुड़ गये। अंग्रेज सरकार को पता चल गया कि भारत के बुद्धिजीवी वीर उसे इस देश में चैन से नहीं बैठने देंगे।

ब्रिटिश सरकार जान गयी कि रासबिहारी बोस नाम के एक नौजवान ने समूचे भारत में सशस्त्र क्रान्ति का व्रत लिया है और उस योजना का यह पहला चरण था। रासबिहारी बोस ने 4 मई, 1913 को एक पर्चा बांटा जिसमें बताया गया कि वह बमकाण्ड उस योजना की घोषणा मात्र है जिसके अन्तर्गत सारे भारत के स्वतन्त्रताप्रेमी लोग इकट्ठे होकर न केवल भारत को आजाद करायेंगे अपितु पूरे एशिया महाद्वीप से विदेशी ताकतों का सफाया कर देंगे।

बरतानिया सरकार ने अपनी खोजबीन तेज कर दी। रासबिहारी बोस के वारण्ट जारी किये गए, और उन्हें पकड़वाने के लिए 7500 रुपए का इनाम भी घोषित किया गया। गुप्तचर विभाग की सारी ताकत उन्हें पकड़ने में लगा दी गई किन्तु वे अंग्रेजों के हाथ न आये। उन्होंने दिनों एक अंग्रेजी पत्र ने अपने सम्पादकीय में लिखा, “रासबिहारी बोस अत्यधिक भीमकाय और बलवान व्यक्ति है, उसका लम्बा-चौड़ा शरीर किसी भी वेश में छिपना कठिन है। जाने कैसे वह सरकार की निगाह से ओझल होकर निकल गया।”

रासबिहारी घूमते-घामते बनारस पहुंचे और अपने क्रान्ति सम्बन्धी कार्यों में तल्लीन हो गये। पंजाब में गदर पार्टी के नेता श्री विष्णु गणेश पिंगले बनारस जाकर उनसे मिले और उन्हें पंजाब की गतिविधियों से अवगत कराया। उन्होंने रासबिहारी बोस को बताया कि उत्तर भारत में विद्रोह के लिए 4,000 क्रान्तिकारी अमेरिका से आये हैं और क्रान्ति शुरू होने पर 20,000 क्रान्तिकारी और आ जायेंगे। रासबिहारी बोस ने इस कार्य के लिए शचीन्द्रनाथ सान्याल को भेजा, और फिर कुछ दिन बाद स्वयं भी वहां पहुंच गये।

21 फरवरी, 1915 को पंजाब में क्रान्ति होनी थी। समूचे कार्य का जिम्मा करतारसिंह को सौंपा गया और विनायक राव को बम भेजने के लिए नियुक्त किया गया। सारी योजना पूरी कर ली गई। जैसे-जैसे क्रान्ति का दिन नजदीक आ रहा था, नौजवानों में सरफरोशी का जोश बढ़ता जा रहा था। लोग ज्वालामुखी फूटने का इन्तजार कर रहे थे। वे सोच रहे थे कि मातृभूमि की वेड़ियां अब सदा-सर्वदा के लिए कट जायेंगी।

मगर तभी एक कौमी गद्दार कृपालसिंह ने पंजाब सरकार को सारा भेद बता दिया। एकएक धरपकड़ शुरू कर दी गई। बहुत से क्रान्तिकारी पकड़ लिये गए। पिंगले और रासबिहारी बोस दिमागी करिश्मे दिखाकर फरार हो चन्दर नगर के लिए रवाना हो गये। कोई उन्हें पहचान न सका। 23 मार्च, 1915 को पिंगले को पकड़ लिया गया। पिंगले उदभट देशभक्त थे। वे पीछे हटना अपना अपमान समझते थे और अपने आपको आज़ादी की आग में झोंक देना चाहते थे। रासबिहारी बोस के रोकने पर भी वे मेरठ उतर गये जहां एक कृतघ्न साथी ने उन्हें गिरफ्तार करवा दिया।

मुकदमा चला और पिंगले को फांसी का टण्ड दिया गया। फांसी से पहले उनसे पूछा गया कि वे क्या चाहते हैं, “उन्होंने कहा, “मेरे हाथ खोल दो, मैं प्रार्थना करना चाहता हूं।” उनकी हथकड़ी खोल दी गई। उन्होंने प्रार्थना की, “जिस दिन के लिए मैं बलिदान दे रहा हूं वह दिन शीघ्र ही आये।” इतना कहकर उन्होंने उछलकर फांसी के फंदे को स्वयं अपने गले में डाल लिया और अपनी इहलीला समाप्त कर ली। खुफिया रिपोर्ट में लिखा था, “पिंगले के पास जो बम थे वे इतने खतरनाक थे कि एक बम आधी छावनी को समाप्त कर सकता था।”

19 फरवरी को रासबिहारी बोस के प्रधान कार्यालय पर भी छापा पड़ा मगर वे पुलिस के हाथ न आये। उन्होंने सिंगापुर इत्यादि शहरों में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन की शाखाएँ खोल दीं। सरकार ने उनकी गिरफ्तारी का इनाम 12,500 रुपए घोषित किया और बढ़िया गुप्तचर उन्हें पकड़ने के लिए तैनात किये मगर रासबिहारी बोस इतने बुद्धिमान थे कि वे बराबर गुप्तचरों की आंखों में धूल झाँकते रहे।

वे जानते थे कि उनके लिए चन्द्रनगर में बहुत दिन तक रहना खतरे से खाली नहीं था। अतः उन्होंने एक युक्ति सोची। जब रवीन्द्रनाथ टैगोर जापान जा रहे थे, वह उनकी प्रबन्ध व्यवस्था से जुड़ गये और स्वयं पी. एन. टैगोर के नाम से पासपोर्ट और टिकट लेकर रवीन्द्रनाथ टैगोर से पहले जापान पहुंचे गये। सरकारी अफसरों ने उन्हें श्री टैगोर का निकट सम्बन्धी समझकर पूर्व व्यवस्था के लिए जापान जाने की अनुमति दे दी। टोकियो में वे एक क्रान्तिकारी दल के नेता काउण्ट तोयामा के पास रहने लगे और 'एशियाटिक-रिव्यू' का सम्पादन करने लगे।

ब्रिटिश सरकार ने जापान पर इस बात के लिए जोर डाला कि वह उनके सबसे बड़े दुश्मन रासबिहारी बोस को उनके सुपुर्द कर दे। किन्तु रासबिहारी बोस ने जापान की नागरिकता लेकर अंग्रेजों की योजना विफल कर दी। इस कार्य के लिए उन्होंने 2 जुलाई, 1918 को एक जापानी देशभक्त ऐजोसोमू की पुत्री से विवाह कर लिया। जापान में रहकर उन्होंने वे कार्य किये जो वे भारत में रहकर नहीं कर सकते थे। अगस्त, 1926 में उन्होंने एशियाई देशों का एक विशाल सम्मेलन आयोजित किया जिसमें एशिया के देशों की स्वाधीनता सम्बन्धी योजनाएँ बनाई गयीं।

सबसे महान कार्य जो उन्होंने जापान में रहकर किया वह था 1 दिसंबर, 1941 को इण्डियन नेशनल आर्मी अर्थात् आई. एन. ए. की स्थापना। 1 जून, 1942 से उन्होंने एशिया के सभी देशों की यात्रा प्रारम्भ की। आजाद हिन्द फौज अथवा आई. एन. ए. के लिए उन्होंने 20 करोड़ रुपये से अधिक का खजाना, थाने, अदालत, स्कूल और प्रेस इत्यादि का भी प्रबन्ध किया। आजाद हिन्द फौज का न सिर्फ अपना स्वतन्त्र इलाका था अपितु उसके पास पचास हजार देशभक्त सिपाही भी थे। साथ ही उसके अपने सिक्के और स्टाम्प आदि भी थे।

जुलाई, 1948 में रासबिहारी बोस ने आजाद हिन्द फौज और इण्डियन इण्डिपेंडेंस लीग की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया और दोनों संस्थाओं की वागडोर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के हाथों में दे दी। वे केवल इन संस्थाओं के सलाहकार रहकर ही कार्य करने लगे। इसका एक कारण यह भी था कि अपने चौसठ वर्ष के जीवन में वे कभी आराम से नहीं बैठ पाये थे इसीलिए उन्हें बीमारी ने आ दबाया था।

25 अगस्त, 1945 को इस महान स्वाधीनता-सेनानी ने जापान में अन्तिम सांस ली।

शहीदानेवतन मौलवी बरकत उल्लाह खां

जिस महान देशभक्त को जीवित रहते जन्मभूमि को स्पर्श करने का मौका न मिल सका और मृत्यु होने पर भी जिसके शव को स्वदेश में न दफनाया जा सका, उस वीर का नाम था बरकत उल्लाह खां। भोपाल क्षेत्र के एक गरीब मुस्लिम परिवार में जन्मे बरकत उल्लाह खां बचपन से ही देशभक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत थे। गरीबी के कारण वे विधिवत् शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके और घर पर ही उन्होंने अरबी व फारसी का अध्ययन किया। वे चाहते थे कि वे विदेश जाकर अन्य राष्ट्रों की मदद से भारत को आजाद करायें अतः कड़ी मेहनत और विवेक-बुद्धि द्वारा उन्होंने कुछ धन इकट्ठा किया और इंग्लैण्ड पहुँच गये। वहाँ अरबी भाषा के शिक्षण से उन्होंने जो पैसा कमाया उससे अपने अध्ययन के क्रम को जारी रखा।

बरकत उल्लाह इंग्लैण्ड में दस वर्ष रहे और प्रवासी भारतीयों में भारत को अजाद कराने की भावना जाग्रत करते रहे। इंग्लैण्ड में रहकर उन्होंने महसूस किया कि बरतानिया सरकार उन्हें स्वेच्छा से कार्य नहीं करने देगी, अतः वे अमेरिका चले गये जहाँ उनकी भेंट गटर पार्टी के नेता महान क्रान्तिकारी लाला हरदयाल से हुई। लालाजी के संसर्ग ने उनके क्रान्ति विषयक विचारों को बौद्धिक आधार प्रदान किया जिससे बरकत उल्लाह आजादी के पक्के दीवाने बन गये। उन्होंने अमेरिका से एक पत्र प्रकाशित किया जिसकी प्रतियाँ वे बराबर भारतीय क्रान्तिकारियों को भेजते रहे। परिणामतः अंग्रेज सरकार भयभीत हो उठी। उसने हर सम्भव प्रयास किया कि यह पत्र भारतीय क्रान्तिकारियों के हाथ न लगे। उसने अमेरिकी सरकार से यह आग्रह किया कि वह मौलवी बरकत उल्लाह को उसके हवाले कर दे। मौलवी साहब ऐसा होते देख अमेरिका से जापान जा वसे जहाँ उन्हें चार साल के लिए उर्दू की प्रोफेसरशिप मिल गई। ब्रिटिश सरकार ने जापान पर भी दबाव डाला कि वह उनकी नियुक्ति समाप्त कर दे और उन पर कड़ी निगाह रखे। मगर जो सिर पर कफन बांधकर निकलते हैं उन्हें इन बातों की परवाह नहीं होती।

अपने जापान प्रवास में मौलवी बरकत उल्लाह जापान और तुर्की में मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कराने का प्रयास करते रहे। ब्रिटिश सरकार को इन दोनों देशों की मैत्री अपने अस्तित्व के लिए खतरा लगती थी अतः उसने जापान पर जोर डाला कि वह

मौलवी साहब को हिन्दुस्तान भिजवा दे। जापानी हुकूमत के पैर डगमगाने देख बरकत उल्लाह जर्मनी जा वसे।

सम्राट कैसर से राजा महेन्द्रप्रताप की मुलाकात और जर्मनी की ओर से अफगानिस्तान भेजे जाने वाले प्रतिनिधि-मण्डल में, जिसके प्रमुख राजा महेन्द्रप्रताप थे, मौलवी साहब को भी स्थान दिया गया। इस समय मौलवी साहब का जो परिचय राजासाहब से हुआ वह आने वाले वर्षों में प्रगाढ़ मैत्री में बदल गया।

अफगानिस्तान के शाह हर्बिबुल्ला से भारतीय क्रान्तिकारियों की मुलाकातों में मौलवी बरकत उल्लाह अवश्य उपस्थित रहते थे। अफगानिस्तान में भारत की अस्थायी स्वतन्त्र सरकार की स्थापना में भी मौलवी साहब ने अमूल्य योगदान दिया। इस सरकार के वे प्रथम प्रधानमंत्री बनाये गये। उनके अथक प्रयासों के कारण ही भारतीय क्रान्तिकारियों का रूस के क्रान्तिकारियों से निकट सम्पर्क स्थापित हो सका।

राजा महेन्द्रप्रताप जब रूस से तिब्बत जाने की बात सोच रहे थे तभी मौलवी साहब का पैगाम मिला कि वे तिब्बत की यात्रा का प्रोग्राम रद्द कर बर्लिन आ जायें। वहां से दोनों गदर पार्टी के सदस्य मुकाम कैलिफोर्निया गये और गदर पार्टी के कार्यों में प्राणपण से जुट गये। धन और शस्त्रों के अभाव में क्रान्तिकारियों की गतिविधियां सुचारु रूप से नहीं चल पा रही थीं। मौलवी बरकत उल्लाह ने इस दिशा में भी बहुत कारगर योजनाएं बनाई और उन्हें बड़ी कड़ाई से लागू करवाया।

सन् 1918 में कैलिफोर्निया में उनका देहान्त हो गया। गदर पार्टी के सैकड़ों कार्यकर्ताओं और समर्थकों ने उन्हें अश्रुपूरित नेत्रों से अन्तिम विदाई दी। उस समय कुरान, गीता और गुरुग्रन्थ साहब से दार्शनिक उपदेशों का पाठ किया गया।

भारत की स्वाधीनता का यह सशक्त सेनानी सारी आयु देशभक्ति का अलख जगाने हुए सदा के लिए सो गया। काश ! हमारे देश के लोगों ने उनकी अस्थियों को भारत मां की गोद तक पहुंचाया होता।

कर्मवीर पण्डित सुन्दरलाल

देश में जिस समय सर्वत्र उदासीनता व रुदन की अव्यक्त अनुभूति हो रही थी उस संकटापन्न स्थिति में मुजफ्फरनगर के एक सम्पन्न श्रीवास्तव घराने में सन् 1885 में एक तेजस्वी और प्रतिभावान बालक ने जन्म लिया। पिता थे श्री तोताराम जो खतौली में एक उच्च पदस्थ सरकारी मुलाजिम थे। पिता को इस लाड़ले पुत्र से बहुत आशा थी, अतः उन्होंने बालक सुन्दरलाल को मुजफ्फरनगर से हाई स्कूल पास करवाकर इलाहाबाद के म्योर कॉलेज में उच्च-शिक्षा-हेतु भेजा। अभी वे बीस वर्ष के भी नहीं हुए थे कि अंग्रेज पुलिस उन पर निगाह रखने लगी। सी० आई० डी० ने रिपोर्ट दी कि सुन्दरलाल एक खतरनाक किन्तु असाधारण क्षमता वाला विद्यार्थी है। समय मिलने पर नाना फ़ड़नवीस और तात्या टोपे की तरह खतरनाक साबित हो सकता है।

1907 में जब सुन्दरलाल केवल बाईस वर्ष के थे, बनारस में शिवाजी महोत्सव मनाया गया। हजारों की भीड़ व पुलिस की मौजूदगी में सुन्दरलाल ने जो आग्नेय वक्तव्य दिया उससे अंग्रेजी हुकूमत की जड़ें हिल गईं। सारे उत्तरप्रदेश में क्रान्ति की लहर दौड़ गई।

म्योर कॉलेज के बोर्डिंग हाऊस से सुन्दरलाल को बाहर निकाल दिया गया और उन पर अंग्रेजों के विरुद्ध गदर करवाने का आरोप लगाया गया—किन्तु क्रान्ति का यह संदेशवाहक भला किसकी चिन्ता करने वाला था। मेधावी था ही, बहुत अच्छे नम्बर लेकर बी० ए० किया और प्राण-पण से देश-सेवा में जुट गया।

उन्होंने 1909 में योगिराज अरविन्द के साथ, जो उन दिनों क्रान्तिकारी थे, कलकत्ता में सिंह-गर्जना की। तत्कालीन पुलिस कमिश्नर ने लिखा, “एक पढ़ा-लिखा और बुद्धिजीवी भारतीय हमारे लिए बहुत बड़ा खतरा है। उस पर यह बालक, जो भारत की सबसे शिक्षित जाति से सम्बन्ध रखता है, वास्तव में आग उगलता है।” पण्डित सुन्दरलाल अंग्रेजों की निगाह में इतने खतरनाक थे कि बड़े से बड़े नेता भी उनसे सम्बन्ध सम्पर्क रखने से कतराते थे। माता रामेश्वरी नेहरू ने अपने आत्म-चरित में लिखा था—“मैंने स्त्री-दर्पण में प्रकाशित एक लेख के लिए दस रुपये का मनीआर्डर पं० सुन्दरलाल को भेजा। जब उस मनीआर्डर की रसीद आई तो श्री मोतीलाल नेहरू ने उसे देखकर कहा था—“पं० सुन्दरलाल को पैसा भेजकर हमें कौन आफत में फँसाना चाहता है।”

उन्हीं दिनों क्रान्ति का शंखनाद करते हुए पं० सुन्दरलाल ने लाला लाजपत राय के साथ पूरे उत्तरप्रदेश का दौरा किया और गंगा-जमुना के पानी में आग लगा दी। वेद-वेदांग तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों से उदाहरण देते हुए वे ऐसे बोलते थे मानो कोई देवदूत अपने साधियों को धर्म-मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे रहा हो। उनकी विद्वत्ता और तेजस्विता को देखकर देश के बड़े-बड़े नेता भी उन्हें आदरपूर्वक सम्बोधित करते थे।

23 जुलाई, 1909 को 25 वर्ष की अल्प आयु में पण्डितजी ने 'कर्मयोगी' नामक पत्र निकाला। इस पत्र ने वही काम किया जो महाराष्ट्र में 'केसरी' और बंगाल में 'युगान्तर' ने किया था। यही नहीं 'अभ्युदय' और 'स्वराज्य' भी आपके ही संचालन और सम्पादन में निकल रहे थे। 'हिन्दी प्रदीप' के भी आप ही सर्वेसर्वा थे। इन पत्रों से अंग्रेजी हुकूमत को डर लगता था। ब्रिटिश अधिकारी कहा करते थे कि सुन्दरलाल की कलम से बम के गोले निकलते हैं। उनके अनुसार इतना विद्रोह हजार बागी भी नहीं फैला सकते हैं। न मालूम पण्डितजी के शब्दों में कौन-सा बल था, कौन-सी दृढ़ता थी और कौन-सा निश्चय था कि ब्रिटिश सरकार उनसे इतनी बबरबाजी करती थी। पण्डितजी सोचते थे कि तलवार और कलम दोनों से ही शत्रु परास्त हो सकेगा अतः वे भारत को दोनों ही उपायों से स्वतन्त्र करवाना अपना परम कर्तव्य मानते थे।

ब्रिटिश सरकार इन समाचार-पत्रों से इतनी भयभीत हुई कि उसने 1910 में प्रेस एक्ट की घोषणा की जिसके कारण पण्डितजी को इन पत्रों को कुछ समय के लिए बन्द करना पड़ा। पण्डितजी ने इस समय का उपयोग एक परिव्राजक के रूप में करने का निश्चय किया और वे स्वामी सोमेश्वरानन्द के नाम से देशभक्ति का अलख जगाने लगे। कुछ समय देहरादून में रहने के पश्चात् वे दिल्ली आ गए और हार्डिंग बमकाण्ड में मास्टर अमीरचन्द और श्री अवधविहारी को सहयोग प्रदान करने में लग गये। इस बमकाण्ड की जांच-पड़ताल के समय पण्डितजी सोलन चले गये जहां दिल्ली के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हनुमन्त सहाय उनके साथी बने और ब्रिटिश हुकूमत को जड़ से उखाड़ फेंकने की योजनाएं बनाने लगे। इन दिनों क्रान्तिकारी आन्दोलन की जो भी गतिविधियां होतीं, पण्डित सुन्दरलाल का उनसे बहुत निकट का सम्बन्ध रहता। वे श्री रासबिहारी बोस और श्री अरविन्द घोष के भी अन्यतम सखा थे।

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी ने भी पण्डितजी से प्रेरणा लेकर अपने नगर कानपुर में एक स्वतन्त्र पत्र 'प्रताप' की स्थापना की और भारतीयों पर किए जाने वाले अन्यायों और अन्याचारों का डटकर विरोध किया। पण्डितजी न जाने कितने ही ऐसे महापुरुषों के प्रेरणास्त्रोत रहे। उनकी वाणी में न जाने कैसा जादू था कि एक बार मिलने वाला व्यक्ति उनके विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता था। पण्डित

सुन्दरलाल उच्चकोटि के लेखक भी थे। उनकी 'भारत में अंग्रेजी राज्य' पुस्तक प्रत्येक पढ़े-लिखे भारतीय में अंग्रेजों के प्रति, उनके पड़यंत्रों के प्रति विक्षोभ के भाव से भर देती थी। अंग्रेजों का एक सुनियोजित पड़यंत्र था हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य पैदा करना। पण्डितजी ने, जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के मसीहा थे, इस विषय पर बड़े सारगर्भित और विद्वत्तापूर्ण लेख तथा ग्रन्थ लिखे।

जाने वह विप्लवी विद्वान किस धातु का बना था कि सारी उम्र अकथनीय कष्टों को झेलने के बाद भी सिद्धान्तों से समझौता करके आराम पाने का सहारा नहीं लेना चाहता था। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भी यदि वह चाहते, तो लोकसभा अथवा राज्यसभा के सदस्य बन सकते थे। पर सुख-सुविधाओं के लिए जैसे उन्होंने जन्म ही नहीं लिया था। उनके विषय में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का यह कथन बहुत सही था। उन्होंने पण्डित सुन्दरलाल पर अपनी लेखनी चलाते हुए कहा था—“जब हमारे देश के कितने ही नवयुवक नेता स्वाधीनता-संग्राम में विजयी होकर देश के शासक होने के सौभाग्यपूर्ण अवसर प्राप्त करेंगे यह स्वाभाविक है और उचित भी कि उस समय भी सुन्दरलाल जी किसी न किसी क्रान्तिकारी लड़ाई में व्यस्त होंगे।”

गांधीजी के निधन से पूर्व उनके आग्रह पर पण्डित सुन्दरलाल पाकिस्तान गये और वहाँ शरणार्थी समस्या के समाधान पर उच्चस्तरीय वार्ता में भाग लिया। तत्पश्चात् पीस मिशन के नेता के रूप में उन्होंने चीन की यात्रा की और भारत-चीन मैत्री संघ की स्थापना की। उन्होंने सन् 1962 से 1963 तक इण्डियन पीस काउंसिल के अध्यक्ष के रूप में वियना, काहिरा, मास्को, स्टॉकहोम, कोलम्बो, बर्लिन और लन्दन की यात्रा की। तोकियो में अणु और परमाणु बम के विरुद्ध तीसरे विश्व-सम्मेलन में पण्डितजी के वक्तव्य की विशेष सराहना की गई।

1962 में उन्होंने सोवियत संघ की अन्तिम यात्रा की। कांग्रेस कमेटी की ओर से उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। आयु के इस मोड़ पर भी उन्हें भारत, चीन और सोवियत संघ में स्थायी मैत्री की चिन्ता बनी हुई थी। 95 वर्ष पूरे कर लेने पर उन्होंने कहा था—

होशोहवास, तावे तवां सब तो जा चुके,

अब हम भी जाने वाले हैं सामान तो गया।

इसी वर्ष अर्थात् 8 मई, 1981 को हृदयगति रुक जाने से नई दिल्ली में उनका निधन हो गया। प्राण-विसर्जन में केवल दो-चार क्षण ही लगे। ऐसा लगता था जैसे किसी महान योगी ने समाधि ले ली है। उनका अन्तिम संस्कार उत्तरप्रदेश सरकार ने पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ किया।

उद्भट देशभक्त सूफी अम्बाप्रसाद

जिन भारतीय वीरों की यशोगाथा अतीत के अन्धकार में छुपी हुई है उनमें प्रमुख हैं—सूफी अम्बाप्रसाद । सूफी अम्बाप्रसाद उद्भट देशभक्त थे । वे चाहते थे कि भारत स्वाधीन होकर सब देशों का मार्गदर्शक बने । इसके लिए वे हर समय अपना सिर हथेली पर लिये फिरते रहते थे ।

सूफीजी का जन्म भारत के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम के एक वर्ष बाद अर्थात् सन् 1858 में मुरादाबाद के एक धनाढ्य भटनागर परिवार में हुआ था । जन्म से ही उनका दाहिना हाथ कटा हुआ था । पूछने पर वे हंसते हुए कहा करते थे—“क्या बताऊँ 1857 के युद्ध में अंग्रेजों से लड़ते-लड़ते हमारा दाहिना हाथ कट गया था । अब दोबारा इस जन्म में अंग्रेजों से लड़ने के लिए केवल एक ही हाथ रह गया है ।”

उनकी शिक्षा मुराबाद, बरेली और बाद में जालंधर में हुई । कॉलेज की शिक्षा समाप्त कर आपने वकालत पढ़ी किन्तु घोषणा की कि वे इक्के-दुक्के मामलों की वकालत न कर समूचे देश की वकालत करेंगे । इस इरादे से उन्होंने ‘जाम्मुल अमूल’ नाम का एक अखबार निकालना शुरू किया । वे बहुत प्रभावशाली लेखक थे और उनके विचारों को पढ़कर कमजोर से कमजोर व्यक्ति के हृदय में बलिदान की तरंगें उठने लगती थीं । पूरा अखबार वे अपने पाँव से कलम पकड़कर लिखा करते थे ।

सूफीजी जितने विद्वान थे उतने ही बुद्धिमान भी थे । उन्होंने सुना कि भोपाल रियासत में अंग्रेज रेजिडेण्ट गड़बड़ कर रहा है और वह अन्ततः उक्त रियासत को बरतानिया साम्राज्य में मिलाना चाहता है । सूफीजी एक पागल का भेष बनाकर रेजिडेण्ट के पास नौकरी के लिए गये । उन्हें कहा गया कि बर्तन मांजो और रोटी खाओ । सूफीजी ने स्वीकृति में सिर हिलाया और काम करने लगे । बर्तन मांजते-मांजते वे अपने मुंह, हाथ और शरीर के अन्य भागों पर मिट्टी मल लेते थे । रेजिडेण्ट को जब उसके पद से हटाया गया तो उसे भान हुआ कि बर्तन मांजने वाले उस पागल व्यक्ति ने ही उसके कारनामों की खबरें देशी और विदेशी अखबार वालों को भेजी थीं ।

सरकार की ओर से ऐलान किया गया था कि भेद खोलने वाले व्यक्ति का पना देने पर एक मोटी रकम पता लगाने वाले को दी जायेगी । कुछ दिन बाद एक

व्यक्ति कोट, पेंट, हैट, बूट आदि से सुसज्जित होकर सरकारी कार्यालय में उपस्थित हुआ और उसने धाराप्रवाह अंग्रेजी बोलनी प्रारम्भ कर दी। इसके बाद उस सूटेड बूटेड व्यक्ति ने भेद पता लगाने वाले व्यक्ति का नाम बताने का इनाम मांगा। सरकारी अफसरों के पूछने पर कि आखिर वह व्यक्ति कौन है—उसने कहा कि वह व्यक्ति मैं ही हूँ और मैंने ही आप सबकी मंजाई की है। रजिस्ट्रार का खून खौल उठा और उसने कहा कि मुझे पहले यह पता लग जाता तो मैं तुम्हारी बोटी-बोटी कटवा देता। सूफीजी हंसे और बोले—“इतने लोगों का खून पीकर भी तुम लोगों को तसल्ली नहीं हुई, अब तो बोटी काटने की बारी हमारी है।”

सन् 1897 में उनके ऊपर सरकार के विरुद्ध बगावत करने का अभियोग चला। उन्होंने स्वयं एक सुलझे हुए वकील की तरह अपने मामले की पैरवी की किन्तु तत्कालीन सरकार ने उन्हें ग्यारह वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया। जेल से छूटने के बाद उन्होंने फिर अपने कामों की सरगमी बढ़ा दी जिससे खिन्न होकर सरकार ने उनकी सारी जायदाद जब्त कर ली और उन्हें पुनः छः महीने के कठोर कारावास का दण्ड दिया। उन्हें एक गन्दी कोठरी में डाल दिया गया जहाँ पर अनेक यातनाओं के कारण वे बीमार हो गये। औषध तो क्या उन्हें पीने का पानी भी नहीं दिया गया और यह अनुमान लगाया गया कि वे ढेर हो चुके होंगे। किन्तु कुछ दिन बाद जब जेलर उनकी कोठरी में आया तो उसने सूफीजी को देखकर कहा—“ओ! सूफी, जिन्दा है!” प्रत्युत्तर में सूफी जी ने कहा—“हम हिन्दू हैं जो मरकर फिर जिन्दा हो जाते हैं।”

सूफीजी छह वर्ष के कारावास को समाप्त कर 1906 में बाहर आये। जेल से छूटने के बाद वे हैदराबाद गये जहाँ निजाम ने उनके लिए एक बहुत आलीशान बंगला बनाकर सभी साधन उपलब्ध करा दिये थे। कुछ दिन बाद निजाम ने उनको वह भवन दिखाया और कहा कि सूफीजी आपके लिए सब कुछ तैयार हो गया है। सूफीजी बोले कि हम भी तैयार हो गये हैं और उन्होंने उठकर अपने कपड़ों की पोटली बगल में दबाई और पंजाब की ओर रवाना हो गये। लाहौर पहुँचकर उन्होंने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अखबार ‘हिन्दुस्तान’ निकाला। 1907 में पंजाब के देशभक्तों को सरकार ने पकड़ना शुरू किया तो वे उन्हें लेकर नेपाल चले गये। सूफीजी को पकड़कर नेपाल से लौटकर लाया गया और एक विद्रोही पत्र निकालने के अपराध में उन पर अभियोग चलाया गया। यह वह समय था जब सरकार ने उनकी लिखी सारी पुस्तकें और पत्र जब्त कर लिये थे।

लोकमान्य निलक को जब कठोर कारावास का दण्ड दिया गया तब पंजाब के सभी क्रान्तिकारी साधु बनकर पर्वतों की यात्रा पर निकल पड़े। उनमें एक हड्डा-कड्डा साधु अंग्रेजों का गुप्तचर बनकर शामिल हो गया था। जब सारे साधु इकट्ठे होकर बैठे तो वह बगुला-भगत सूफीजी के चरणों में सिर रखकर बोला—“महाराज आपका निवास कहाँ है?” सूफीजी उसकी चालाकी समझ गये, बोले—“तेरी खोपड़ी में!”

भक्त ने कहा—“बाबाजी आप नाराज क्यों होते हैं?”

सूफीजी ने उत्तर दिया—“इतने साधुओं को छोड़कर तू मेरे ही चरणों में नतमस्तक क्यों हुआ?” मैं जानता हूँ तू कौन है? जा कह दे अपने बाप से कि सूफी पहाड़ों में बगावत की आग लगा रहा है।” सूफीजी के प्रभाव में आकर वह जासूस उनका सेवक बन गया और जीवन पर्यन्त उनका साथ निभाता रहा।

जिन दिनों बंगाल में क्रान्ति की ज्वाला भड़क रही थी और समस्त बुद्धिजीवी वर्ग उसमें अपना सर्वस्व न्यौछावर कर रहा था उन्हीं दिनों पंजाब में रासबिहारी बोस, बटुकेश्वर दत्त और लाला हरदयाल की गदर पार्टी वाले लोग जो भारत की आजादी के दीवाने थे, पंजाब के पानी में आग लगा रहे थे। अंग्रेज सरकार ने सूफी अम्बाप्रसाद, सरदार अजीतसिंह व उनके साथियों की धर-पकड़ शुरू कर दी। सूफीजी और सरदार अजीतसिंह सरकार की आंखों में धूल झाँककर ईरान पहुंच गये जहां उन्होंने ‘आवेहयात’ नाम का अखबार निकाला। ईरान के लोग उनका इतना आदर करने लगे कि उन्हें ‘आका सूफी’ के नाम से पुकारने लगे और उन्हें अपना रहनुमा मानने लगे।

दुर्भाग्यवश सन् 1915 में अंग्रेजों ने ईरान पर कब्जा करना चाहा। जिस समय शीराज पर घेरा डाला गया उस समय सूफीजी ने बायें हाथ में रिवाल्वर लेकर अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये किन्तु अधिक फौज आ जाने पर उन्हें कैद कर लिया गया और गोली से उड़ा देने का फैसला किया गया। सूफीजी ने निश्चय किया कि वे अपने पांचभौतिक शरीर को स्वयं ही छोड़ेंगे उस पर अंग्रेजों की नापाक गोली नहीं लगेगी। अगले दिन कारावास की कोठरी में अन्तिम समाधि लेकर उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। उनकी शवयात्रा में हजारों लोग शामिल हुए और एक बहुत सुन्दर स्थान पर उनके शरीर को दफनाकर उनकी कब्र बना दी गई। उस स्थान पर आज भी ईरान के लोग श्रद्धा से सिर झुकाकर उनका स्मरण करते हैं।

शहीदों के राजकुमार अवधबिहारी

जिस एक व्यक्ति के कृतित्व से दिल्ली का इतिहास गौरवान्वित हो उठा वह व्यक्ति था स्वनामधन्य अवधबिहारी। शहीदों के इस राजकुमार की स्मृति मानव जाति की बहुमूल्य धाती है। ऐसे वीर से किसी भी देश का सौभाग्य उदय हो जाता है।

केवल पच्चीस वर्ष की अल्प आयु में ही देश पर स्वयं को न्यौछावर कर हंसते-हंसते दुनिया से विदा लेने वाले इस वीर का जन्म चांदनी चौक के कच्चे कटरे में हुआ था। पिता श्री गोविन्दलाल श्रीवास्तव अल्प आयु में ही अवधबिहारी, उनकी मां और बहन को छोड़कर स्वर्ग सिंघार गये थे। बालक अवधबिहारी को कभी भी भरपेट रोटी नसीब न हुई किन्तु वे बहुत मेधावी थे और सदा अपनी कक्षा में प्रथम आते थे। गणित में वे सदा ही पूरे नम्बर लिया करते थे।

दयूशन और वजीफों के बल पर अवधबिहारी ने सेंट स्टीफेंस कॉलेज से 1908 में प्रथम श्रेणी में बी० ए० पास किया और गोल्डमैडल प्राप्त किया। चूँकि उनका शिक्षक बनने का विचार था अतः वे लाहौर गए और सेंट्रल ट्रेनिंग कॉलेज से बी० टी० की परीक्षा पास की। ट्रेनिंग कॉलेज के एक अंग्रेज अध्यापक ने अवधबिहारी की बुद्धि, स्मरण-शक्ति और अपूर्व कार्य-क्षमता को देखकर कहा कि अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी सभ्यता के प्रचार-प्रसार में ऐसे बुद्धिजीवी नवयुवकों से बहुत सहायता मिल सकती है। पर कौन जानता था कि जिस बालक को बरतानिया सरकार अपना प्रचारक बनाना चाहती थी वही बालक आगे चलकर उसके साम्राज्य की जड़ उखाड़ने और उसे समाप्त करने में सफल होगा।

शिक्षा पूरी कर अवधबिहारी स्वराज्य-आन्दोलन में कूद पड़े। देशप्रेम का ज्वालामुखी उन्हें चैन से नहीं बैठने दे रहा था। यह वह दिन थे जब अंग्रेज अपनी राजधानी दिल्ली ला रहे थे। लाला हरदयाल जो दिल्ली निवासी थे और क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों के नेता थे, अंग्रेजों की आंख में कांटे की तरह चुभ रहे थे। लाला हरदयाल के साथी हनुमन्त सहाय भी दिल्ली में क्रान्तिकारियों के अगुआ थे। हनुमन्त सहाय जी दिल्ली के एक समृद्ध घराने में जन्मे थे, किन्तु उन्होंने अपना सर्वस्व देश सेवा में लगा दिया था। किनारी बाजार वाले अपने मकान में उन्होंने ऐसे सभी लोगों के लिए, जो देशभक्ति का प्रचार कर रहे थे, एक राष्ट्रीय विद्यालय भी खोल रखा था।

अवधविहारी, जो उन दिनों दिल्ली के संस्कृत हाई स्कूल में अध्यापन कर रहे थे, नौकरी छोड़कर किनारी बाजार के उस राष्ट्रीय स्कूल में आ गये और वक्त्रों को ज्वलन जीवन की शिक्षा देने लगे। इस काल में अवधविहारी अन्दर ही अन्दर ब्रिटिश हुकूमन के खिलाफ सक्रिय रूप से कार्य कर रहे थे तथा क्रान्तिकारी दल के सदस्य के रूप में उत्तरप्रदेश और पंजाब की गतिविधियों का संयोजन भी कर रहे थे। दिल्ली दरबार के अवसर पर अवधविहारी को राष्ट्रीय अपमान की अनुभूति हुई और उन्होंने निश्चय किया कि वे वायसराय को बम से उड़ाकर इस राष्ट्रीय अपमान का बदला लेंगे जो फ़िरंगी सरकार ने दिल्ली पर अपना झण्डा गाड़कर किया था।

संस्कृत हाईस्कूल से नौकरी छोड़ने के बाद अवधविहारी मास्टर अमीरचन्द के साथ उनके दरिबाकलां स्थित मकान प्रेमधाम में रहने लगे। प्रेमधाम क्रान्तिकारियों का तीर्थ बन गया था और अवधविहारी उस तीर्थ के प्रमुख पुजारी।

बंगाल के क्रान्तिकारियों से मिलकर मास्टर अवधविहारी ने जिनकी अवस्था उस समय मात्र बाईस वर्ष थी, यह योजना बनाई कि वायसराय को भारतीय नवयुवकों का जौहर दिखाया जाये जिससे अंग्रेज सरकार के लोग मूँछें तानकर इस प्राचीन नगरी में न घूमते फ़िरें।

जब लार्ड हार्डिंग, एक सजे-सजाये हाथी पर सवार होकर लम्बे-चौड़े जुलूस में चांदनी चौक घण्टाघर से फतेहपुरी की ओर जा रहे थे, एक भयानक धमाका हुआ। बम ठीक निशाने पर न लग सका किन्तु उसका एक टुकड़ा हार्डिंग की पीठ पर लगा जिससे उनके कन्धे के पास चार इंच लम्बा घाव हो गया और कन्धे की हड्डी दिखाई देने लगी। उनके दायें नितम्ब और गर्दन की दायाँ ओर भी भयानक घाव हो गया।

सरकार ने घोषणा की कि बम-विस्फोट के लिए जिम्मेदार व्यक्ति के बारे में जो भी सूचना देगा उसे एक लाख रुपये का इनाम दिया जायेगा। पकड़-धकड़ शुरू हुई, बड़े जोर-शोर से छान-बीन की गयी। दिल्ली की पुलिस चक्कर में थी। उसे युवक अवधविहारी पर शक तो था किन्तु वे यह न सोच सकते थे कि जिस बालक के चेहरे से मासूमियत झलकती है वह इतना वीरोचित काम भी कर सकता है।

वायसराय पर बम फेंकने की घटना के छः महीने बाद लाहौर में लारेंस गार्डन वाला बमकाण्ड हुआ लेकिन क्रान्तिकारियों का सुराग नहीं लगाया जा सका। उधर क्रान्तिकारी गतिविधियाँ दिल्ली और अन्य स्थानों पर जोर पकड़ रही थीं। नौजवान, विशेषकर विद्यार्थी, इन गतिविधियों में बहुत बड़-बड़कर भाग ले रहे थे।

दिल्ली बम काण्ड में मास्टर अवधविहारी के सहयोगी और लाहौर बमकाण्ड के नायक श्री वसन्त विस्वास भी बंगाल के एक साधारण परिवार के लड़के थे। जैसे ही वसन्त विस्वास पिता के श्राद्ध हेतु कलकत्ता पहुंचे, पुलिस ने उन्हें बन्दी बना लिया।

अवधविहारी, वसन्त विस्वास, अमीरचन्द और भाई बालमुकुन्द को त्रिरासन में

ले लिया गया। कलकत्ता के राजा बाजार की तलाशी में अवधविहारी का नाम मिल गया। एक पंजाबी सज्जन दीनानाथ का भी पता लगा। वे सज्जन वैसे तो बड़े साहसी बनते थे लेकिन न जाने उनकी बहादुरी एकदम कहां हवा हो गयी। डिप्टी पुलिस सुपरिन्टेंडेंट की लाल-लाल आंखें देखकर उन्होंने घबराकर कहा—“आप ब्रोध न करें, मैं आपको सब कुछ बताए देता हूँ।” उनका बयान हुआ और उन्होंने सब कुछ बता दिया। एक-दो नहीं सैकड़ों पृष्ठों में उनका बयान लिखा गया।

अदालत में अवधविहारी पर बारह आरोप लगाए गये। इनमें कहा गया था कि लारेंस गार्डन के बम की टोपी उन्होंने ही बसन्त कुमार के साथ मिलकर लगाई थी और सभी बमकाण्डों में उनका प्रमुख हाथ था। अदालत ने इस स्वाभिमानी देशभक्त को, जिसकी आयु मात्र पच्चीस वर्ष थी, फांसी की सजा दी। जज ने अपने फैसले में कहा—“अवधविहारी जैसा शिक्षित और मेधावी नवयुवक किसी भी जाति का गौरव हो सकता है। यह नवयुवक साधारण व्यक्ति से हजार दर्जे ऊंचा है। इसे फांसी की सजा देने हुए हमें दुःख हो रहा है।”

कातिल को दुःख और शहीद को सुख यही क्रान्ति का दर्शन है। अवधविहारी फांसी वाले दिन बहुत खुश थे। उस दिन किसी अंग्रेज ने उनसे पूछा कि उनकी अन्तिम इच्छा क्या है? वे बोले, “तुम क्या तुम्हारा सम्राट भी मेरी इच्छा पूरी नहीं कर सकता।”

उसने कहा, “जिसके राज्य में सूरज नहीं डूबता क्या वह एक छोटे से मास्टर की इच्छा पूरी नहीं कर सकता।”

अवधविहारी बोले, “मेरी अन्तिम इच्छा है कि अंग्रेज साम्राज्य का नाश हो, बताओ क्या इसे पूरा करोगे?”

फांसी पर झूलने से कुछ क्षण पूर्व एक अन्य अंग्रेज ने उनसे कहा—“मि० अवधविहारी, परमात्मा आपकी आत्मा को शान्ति दे।”

अवधविहारी कड़ककर बोले—“शान्ति नहीं, मैं चाहता हूँ कि भयंकर अशान्ति फैले जिससे क्रान्ति की आग भड़के और इस आग में अंग्रेजों का साम्राज्य और हमारी गुलामी भस्म हो जाये। क्रान्ति की आग से भारत कुन्दन बनकर निकले। अगर हमारे जैसे हजार दो हजार लोग नष्ट भी हो जायें तो क्या।”

फांसी के समय इस वीर ने स्वयं कूटकर रस्सी अपने गले में डाल ली और ‘वन्देमातरम्’ के घोष के साथ हंसते-हंसते प्राणोत्सर्ग कर दिया।

देदीप्यमान देशभक्त चन्द्रशेखर आज़ाद

चन्द्रशेखर आज़ाद—भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की तेजोमय विभूतियों में से एक थे। वे हिन्दुस्तानी समाजवादी सेना के सेनानायक थे। ब्रिटिश सरकार के भाड़े के डूटू बने हिन्दुस्तानी सेनानायक सारी उम्र एड़ी बजाकर उनके लिए जान देते रहे मगर देश एवं समाज के लिए बलिदानियों की सेना का सेनापति चुना जाना बड़े गौरव की बात थी। आज़ाद के नेतृत्व में देशप्रेम से प्रेरित हो जिस आत्मत्याग और शौर्य का परिचय दिया गया वह हमारे पिछले सौ वर्ष के इतिहास में अद्वितीय है।

आज़ाद का जन्म मध्यप्रदेश के एक छोटे से गाँव भावरा में हुआ था। वैसे वे उत्तरप्रदेश के उन्नाव जिले के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम सीताराम तिवारी और माता का नाम जगरानी देवी था। चन्द्रशेखर से पहले उनकी तीन सन्तानें केवल अपनी यादें छोड़कर काल-कवलित हो गई थीं। इस प्रकार चन्द्रशेखर अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान थे।

बचपन में चन्द्रशेखर बहुत नटखट थे। वे सारा समय खाने और खेलने में ही बिताते थे। देसी बारूद को एक खिलौने में भरना, तोप चलाना उनका प्रिय खेल होता था। एक दिन उन्होंने उस बाग के सारे आम बेच डाले जिसकी रखवाली उनके पिता करते थे और उन पैसों से बारूद और गुड़ खरीदने की योजना बनाई। गुड़ खाना उन्हें बहुत प्रिय था लेकिन गरीबी के कारण वे गुड़ के लिए तरसते रहते थे। लोगों की उनकी आम बेचकर गुड़ खाने और बारूद खरीदने की योजना का पता चल गया और बेचारे चन्द्रशेखर की योजना विफल हो गई।

चौदह वर्ष की आयु में आज़ाद घर से भाग निकले। माँ-बाप सिर पटकते रहे। एक सप्ताह बाद चन्द्रशेखर का पत्र आया, लिखा था—“मैं संस्कृत पढ़ने काशी आ गया हूँ।”

काशी आने के कुछ ही दिन बाद उन्हें असहयोग-आन्दोलन में गिरफ्तार कर लिया गया। धोती, अंगरखा पहने, सिर पर एक बड़ी चोटी लिये नंगे पैर उन्हें अदालत में पेश किया गया।

मजिस्ट्रेट ने पूछा—“तुम्हारा नाम?”

बालक ने उत्तर दिया—“आज़ाद।”

मजिस्ट्रेट ने पूछा—“पिता का नाम?”

बालक ने उत्तर दिया—“स्वाधीन ।”

मजिस्ट्रेट ने पूछा—“घर का पता ?”

बालक ने उत्तर दिया—“जेलखाना ।”

क्रोधित होकर मजिस्ट्रेट ने पन्द्रह बंतों की सजा सुनाई । जब बालक के कोमल शरीर पर पुलिस के तड़ातड़ बंत पड़ रहे थे तो वह मुस्करा रहा था और कह रहा था, “भारत माता की जय हो ।” जेल से निकलने के बाद उसके मुखमण्डल पर शौर्य की अदभुत आभा थी । उसकी बहादुरी की चर्चा सारे बनारस में फैल गयी और नगर कमेटी ने उसके अभिनन्दनार्थ एक सभा का आयोजन किया । हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे इस वीर बालक के दर्शन करने और उसके माता-पिता की सरहना करने के लिए सभा में उपस्थित हुए । बालक चन्द्रशेखर को एक ऊँचे मंच पर बैठाया गया और फूल-मालाओं से लाद दिया गया । बंत की चोटों के निशान उसके शरीर पर अन्त तक बने रहे । चन्द्रशेखर ने कहा—“मैं ब्रिटिश सरकार को देश से बाहर निकालकर ही इन चोटों की चिन्ता करूंगा ।”

इन्हीं दिनों कुछ क्रान्तिकारी और रासबिहारी बोस के पुराने साथी अण्डमान जेल से छूटकर बनारस आये । उन्होंने बनारस में एक मकान किराये पर ले लिया और वहीं से क्रान्तिकारी गतिविधियों का संचालन करने लगे । सभा का नाम रखा गया ‘हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन ।’

चन्द्रशेखर इन लोगों के सम्पर्क में आये और सभी को पीछे छोड़ उनके नेता बन गये । दल के लिए धन की आवश्यकता थी । आजाद ने सरकारी खजाना लूटने की योजना बनाई । काकोरी में रेलगाड़ी रोककर सरकारी खजाना लूट लिया गया और आजाद भागकर झांसी चले गए । एक खानबहादुर तसददक हुसैन और सभी अंग्रेज भक्तों को मारकर वे फांसी पर चढ़ जाना चाहते थे, किन्तु उनके मित्रों ने उन्हें ऐसा करने से रोका । इसी मामले में रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खां, रोशन सिंह और राजेन्द्र लाहिड़ी को फांसी की सजा दी गई । अपने साथियों को मौत की सजा मिलने पर आजाद खून के आंसू रोए, किन्तु अपने निश्चय से डिगे नहीं । इन्हीं दिनों पंजाब से सरदार भगतसिंह और भगवतीचरण बोहरा कानपुर आ गये तथा आजाद के साथ क्रान्तिकारी गतिविधियों में जुट गये ।

आजाद अपने सभी साथियों को साधारण जीवन और उच्च आदर्श की प्रेरणा देते थे । बटुकेश्वर दत्त के आगमन पर आजाद के साथियों ने डबलरोटी आदि से उनका स्वागत करने की योजना बनाई । आजाद ने न केवल स्वागत का बहिष्कार किया अपितु उन साथियों को दल से निकालने की धमकी भी दी । एक बार उन्होंने एक भारतीय को एक स्त्री के साथ कुचेष्टा करने पर गोली से उड़ा दिया । उन्हें व्यायाम

बहुत प्रिय था। वे चाहते थे कि भारतीयों के जीवन में व्यायाम अनिवार्य स्थान ले। स्वयं पर फिजूल खर्च करने वालों की वे भर्त्सना करते थे।

लाला लाजपतराय पर पुलिस द्वारा अत्याचार और उनकी मृत्यु आजाद के लिए एक चुनौती साबित हुई। अतः उनके क्रान्तिकारी दल ने पुलिस सुपरिन्टेंडेंट साण्डर्स को गोली मारकर हत्या कर दी। परिणामस्वरूप भगतसिंह और राजगुरु को फांसी हो गई। आजाद को सबसे बड़ा दोषी करार दिया गया। यदि वे पकड़े जाते तो उन्हें फौरन फांसी पर लटका दिया जाता, पर वे तुरन्त भूमिगत हो गये।

छब्बीस फरवरी, 1931 को आजाद अपने साथियों के साथ इलाहाबाद के एल्फ्रेड पार्क में बैठे हुए थे कि किसी देशद्रोही ने पुलिस को उनके वहां होने की सूचना दे दी। थोड़ी ही देर बाद पार्क के पास एक कार आकर रुकी। उसमें बैठे पुलिस अफसर ने आजाद पर गोलियां चलानी शुरू कर दीं। आजाद ने एक पेड़ की आड़ लेकर गोलियों का जवाब गोलियों से दिया। उनकी गोलियों ने पुलिस अफसर और उसके साथियों को डेर कर दिया लेकिन इस बीच और पुलिस वहां आ गयी। पार्क को चारों ओर से घेर लिया गया। आजाद ने अपनी स्थिति को समझ लिया और पुलिस के चंगुल में फंसने की बजाय रिवाल्वर में बची आखिरी गोली अपनी कनपटी में मार ली। उनका शरीर धरती पर गिर पड़ा। पुलिस अधिकारी भय के कारण शव के पास नहीं गये। बहुत देर बाद जब उन्हें विश्वास हो गया कि वास्तव में आजाद मर चुके हैं तब पुलिस ने उनका शव अपने कब्जे में लिया।

आजाद फौलाद के बने थे। वे कहा करते थे—“मैं जीवनभर लड़ूंगा और अगर धिर गया तो अन्तिम गोली बचा लूंगा। अपना अन्त ब्रिटिश सरकार की गोली से नहीं होने दूंगा।” वे शेर की तरह जीये और शेर की तरह मरे। उनका बलिदान भारत के नौजवानों में देशप्रेम और पराक्रम का मंत्र फूंकता रहेगा।

वीरप्रवर पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल'

ग्वालियर राज्य में चम्बल नदी के किनारे बसे शाहजहांपुर नामक गांव में पं० मुरलीधर के घर एक बालक का जन्म हुआ। उसका नाम रामप्रसाद रखा गया। वर की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण हिन्दी वर्णमाला का ज्ञान उनके पिता ने उनसे स्वयं ही कराया। उर्दू सीखने वे एक मौलवी साहब के मकतब पर जाते थे। शारती होने के कारण बचपन में उन्हें मार भी बहुत खानी पड़ी। तभी वे अचानक आर्यसमाज के प्रचारक स्वामी सोमदेव के सम्पर्क में आये और व्यायाम तथा प्राणायाम का अभ्यास करने लगे। जब वे नवीं कक्षा के विद्यार्थी थे तब उनका परिचय कुछ प्रगतिशील लेखकों से हुआ। उन्होंने बड़े मनोयोग से उन्हें सुना अतः विदेशी शासन और उसके कर्मचारियों से उन्हें घृणा हो गयी, परिणामस्वरूप वे स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेने लगे और अपने सार्थक भावी जीवन की योजना बनाने लगे।

बिस्मिल पर लोकमान्य तिलक का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने तिलक की सवारी शहर से बाहर निकाले जाने का विरोध किया तब उन्होने उन्हें घोड़ागाड़ी में बिठाकर उसे अपने बलिष्ठ हाथों से खींचते हुए सारे शहर में घुमाया। उग्र विचार वाले होने के कारण उनका सम्पर्क क्रान्तिकारियों से हो गया और वे उनके सक्रिय साथी बन गये। क्रान्तिकारी गतिविधियों को आगे बढ़ाने के लिए हथियारों की आवश्यकता थी और हथियार खरीदने के लिए धन की। उन्होंने अपने साथियों को सुझाया कि इसके लिए अपने किसी देशवासी को दुःख देने की बजाय सरकार का खजाना लूट लेना उचित होगा। वे क्रान्तिकारी कार्यों के लिए पूंजीपति भारतीयों की सहायता लेना भी अनैतिक मानते थे। उन्हें विश्वास था कि भारत के स्वाधीन होने पर पूंजीवाद का सफाया करना भी उनका अभीष्ट होगा और पूंजीपति जो अंग्रेजों के पिङ्गु हैं उन्हें भी एक साथ ही अलविदा कहना है।

नौ अगस्त, 1925 की सायं आठ बजे हरदोई से लखनऊ जाने वाली रेलगाड़ी में दस क्रान्तिकारी सवार हुए। काकोरी पहुंचने पर इन्होंने जंजीर खींचकर गाड़ी रोक दी। यात्रियों को निर्देश दिया गया कि कोई गाड़ी से न उतरे। हम केवल खजाना लूटेंगे, किसी मुसाफिर को कोई हानि नहीं पहुंचेगी। आधे घण्टे में सब काम हो गया और क्रान्तिकारी सरकारी खजाना लूटकर ले गये। इस तरह पिछला कर्ज चुकाकर नये हथियार खरीद लिये गये।

इसके बाद गिरफ्तारियों का सिलसिला शुरू हुआ। विस्मिल पकड़े गये। जेल में उनसे जो भी मिलने आना वे उससे दल की गतिविधियों के बारे में ही पूछने। सरकार की ओर से अनेक प्रकार के प्रलोभन, बर्बर अत्याचार और भय-प्रदर्शन उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर सके। विस्मिल के मन पर न तो प्रलोभनों का और न ही किसी दण्ड के भय का कोई असर हुआ। वे मस्ती और आत्माभिमान से बोले—“पुरस्कार की मुझे इच्छा नहीं और मौत का मुझे भय नहीं। डाकू अंग्रेज हैं और उन्होंने ही हमारे पैसे को अपने खजाने में बन्द कर रखा है।”

मुकदमा चला और अन्त में 18 सितम्बर, 1927 को अन्य कई साथियों सहित उन्हें भी फांसी की सजा सुनाई गई। फांसी लगने से तीन दिन पूर्व उन्होंने एक लेख में अपने उद्गार व्यक्त करते हुए लिखा—परमात्मा की ऐसी ही इच्छा थी कि हम लोगों को फांसी दी जाये। भारतवासियों के जले दिलों पर नमक पड़े, वे बिलबिला उठें और हमारी आत्मायें उनके उत्साह को देखकर सुखी हों।”

इन्हीं दिनों विस्मिल के अनन्य सहयोगी अशफाकउल्लाह खां ने इच्छा प्रकट की—“खुदाबन्द करीम मेरी एक आरजू पूरी कर। मैं अपने रहनुमा और जिगरी दोस्त रामप्रसाद विस्मिल से एक बार आखिरी अलविदा कह लूं।” उनकी यह इच्छा पूरी हुई और अशफाक व विस्मिल का सदा-सदा के लिए एक-दूसरे से जुदा होने से पूर्व एक बार अद्भुत मिलाप हुआ।

विस्मिल के माता-पिता और छोटे भाई भी उनसे फांसी से पूर्व मिलने आये। माता को देखकर विस्मिल स्नेहविह्वल हो उठे और उनकी आंखों में आंसू आ गये। मां ने कहा—“मैं तो सोचती थी तुमने अपने ऊपर काबू पा लिया है किन्तु तुम तो एकदम भिन्न निकले। एक वीर की भांति अपने देश पर प्राण देने वाले पुत्र से तो मेरी कोख धन्य हो जाती। मेरा काम तुम्हें जन्म देना और पाल-पोसकर बड़ा करना था, सो मैंने किया, बाद में तो तुम भारत माता की धरोहर थे और उसी के काम आये, इसमें रोना कैसा?”

विस्मिल ने कहा—“जब घी आग के पास लाया जाता है तो थोड़ा-बहुत पिघलता ही है। उसी प्राकृत सम्बन्ध के कारण मुझे आपको देखकर दुःख हुआ। अपने विषय में मुझे कोई दुःख नहीं। मैंने जो किया अपना कर्तव्य समझकर किया। मुझे विश्वास है कि जिस मां ने मुझे जन्म दिया वह मेरे मन की वास्तविकता को अवश्य समझेगी।”

अगले दिन प्रातः 6.30 पर उन्हें गोरखपुर जेल में फांसी दे दी गई। फांसी से पूर्व उन्होंने शौच, स्नान से फारिग होकर ईश्वर की स्तुति की और उससे प्रार्थना की कि वह उन्हें पुनः भारत में जन्म दे जिससे वे उसे आजाद कराने में सफल हो सकें। यहां उनका एक प्रिय शेर उद्धृत करना उचित होगा। शेर इस प्रकार है :

“अब मौत की यहां परवाह ही कैसे है।

इक खेल हो रहा है, फांसी पर झूल जाना।।”

आज़ादी का परवाना अशफ़ाकउल्ला खां

तंग आकर जालिमों के, जुल्म औ बेदाद से ।

चल दिए सूए-अदम, जिन्दाने फैजाबाद से ॥

एक कट्टर मुसलमान परिवार में जन्म लेकर भी रूढ़िवादी मुसलमान न था । उसकी कल्पना में हिन्दू-मुसलमान का भेदभाव भी न था । वह तो प्रेम का पुजारी था और अन्त में प्रेम का ही गीत गाता हुआ इस दुनिया से चला गया । दुनिया के सभ्य समाज ने उसे डाकू और-हत्यारे के नाम से सम्बोधित किया । मुसलमानों के समझदार मुल्लाओं ने उसे काफ़िर कहकर पुकारा और कुछ सहानुभूति रखने वालों ने कहा—“वह एक जल्दबाज तथा अधीर आदर्शवादी युवक था ।” पर उसे इसकी परवाह न थी । वह जानता था कि यदि वह कुछ है तो एक नेक-इन्सान और एक सच्चा हिन्दुस्तानी है । उत्तरप्रदेश में शाहजहाँपुर के एक धनी-मानी परिवार में अशफ़ाक का जन्म हुआ और वहीं के अंग्रेजी स्कूल में उसने नवीं कक्षा तक शिक्षा पाई ।

सरकारी ऐलान के अनुसार जब रामप्रसाद बिस्मिल फिर शाहजहाँपुर वापस आ गये तो अशफ़ाक ने उनके पास आना-जाना प्रारम्भ कर दिया । उस समय उन्होंने अशफ़ाक पर विश्वास न किया और उससे दूर ही रहने का प्रयत्न करते रहे । किन्तु वहाँ के लोग तो बिस्मिल के साहस तथा वीरता के कारनामों को सुनकर पहले से ही उन पर जी-जान से मुग्ध हो चुके थे अतः लाख मना करने पर भी अन्त में अशफ़ाक की ही विजय हुई और कुछ ही दिनों में वे ‘बिस्मिल’ के दाहिने हाथ बन गये । रामप्रसाद बिस्मिल कट्टर आर्यसमाजी होकर भी अशफ़ाक को प्राणों से अधिक प्यार करते थे । अक्सर इनका खाना-पीना भी एक साथ हो जाया करता था । वे एक-दूसरे को राम तथा लक्ष्मण के नाम से पुकारते थे । अशफ़ाक हृदय की बीमारी से पीड़ित थे, अतएव कभी-कभी उसका दौरा होने पर वे घण्टों बहका करते थे ।

एक समय की बात है अशफ़ाक को दौरा पड़ा और वे राम का नाम लेकर चिल्लाने लगे । माता-पिता ने बहुतेरा समझाया कि खुदा को याद करो, यह राम-राम क्या बक रहे हो? किन्तु वे तो राम के दीवाने थे अतः लोगों की दाल कैसे गल सकती थी । सभी ने कहा—“यह काफ़िर हो गया है ।” किन्तु इनने ही में एक पड़ोसी आ गया, वह इस नाम के राज को जानता था, अतः वह जाकर रामप्रसाद ‘बिस्मिल’ को बुला लाया । उनको देखकर अशफ़ाक ने कहा—“राम तुम आ गये?”

थोड़ी देर में दौरा समाप्त हो गया और उनके बरवालों को अशफ़ाक के राम का पता चल गया ।

जैसा पहले कहा जा चुका है अशफ़ाक के हृदय में धर्मान्धता नाम को भी नहीं थी । उनके लिए मन्दिर तथा मस्जिद में कोई भेद न था । जिन दिनों शाहजहाँपुर में हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा हो रहा था तो वे आर्यसमाज मन्दिर में बिस्मिल जी के पास ही बैठे थे । दंगाई मुसलमानों के एक दल को आर्य समाज मन्दिर पर हमला करने आते देख अशफ़ाक पिस्तौल लेकर बाहर आ गये और बोले, मुसलमानो! मैं एक कट्टर मुसलमान हूँ, किन्तु फिर भी मुझे इस मन्दिर की एक-एक ईंट प्राणों से अधिक प्यारी है । मेरे लिए इसमें तथा मस्जिद में कोई भेद नहीं । यदि तुम्हें मजहब के नाम पर झगड़ा करना है तो बाजार में जाकर लड़ो । यदि किसी ने इस पवित्र स्थान की ओर आंख उठाई तो वह मेरी गोली का निशाना बनेगा ।” यह देखकर किसी ने भी आगे बढ़ने का साहस नहीं किया और वे लोग वापस चले गये । अशफ़ाक जाति, धर्म और सम्प्रदाय से दूर रहकर लगातार देश के कल्याण में रत रहते थे । उन्होंने सदा देश को महत्व दिया और, देश की स्वतन्त्रता को । वे कहा करते थे—“मैं हिन्दुस्तान की जमीन में पैदा हुआ हूँ । हिन्दुस्तान ही मेरा घर है, हिन्दुस्तान ही मेरा धर्म और ईमान है । मैं हिन्दुस्तान के लिए मर मिटूंगा और हिन्दुस्तान की मिट्टी में मिलकर फख्र का एहसास करूंगा ।”

काकोरी ट्रेन डकैती के बाद जब चारों ओर धर-पकड़ शुरू हुई तो वे फरार हो गये । कुछ लोगों ने कहा कि अशफ़ाक का छिपकर रहना बिल्कुल असम्भव है । उनका राजकुमारों जैसा ठाठ-बाट कहीं भी न छिप सकेगा । जो कोई भी उन्हें देखेगा उसी की निगाह उन पर अटक जाएगी । हुआ भी ऐसा ही । वे दिल्ली के एक होटल में ठहरे हुए थे । उन्हें वहीं से गिरफ्तार कर लखनऊ लाया गया और काकोरी के दूसरे मुकदमे में फांसी की सजा हुई । माफ़ी मागने को कहे जाने पर अशफ़ाक ने कहा—“खुदाबन्द करीम के सिवा और किसी से माफ़ी की गुजारिश करना मैं हराम समझता हूँ ।” फांसी से एक दिन पहले कुछ साथी उनसे मिलने गये । उसी दिन उन्हें उनके पहले वाले कपड़े मिले थे । अशफ़ाक ने उन्हें धोकर, उबटन लगाया, स्नान किया और जूते-मोजे पहने । बाल कुछ लम्बे हो गये थे, अतः उन्हें संवारकर हंसमुख अशफ़ाक मित्रों से मिलने बाहर आये और बोले—“मुझे देखो कैसा लग रहा हूँ, दोस्तों आज मेरी शादी है ।”

19 दिसम्बर, 1927 को उन्होंने फांसी के तख्ते के पास जाकर तख्ते का बोसा लिया और फिर कुरान की आयतें पढ़ते हुए स्वयं रस्सी से झूल गये । उस समय भी उनके चेहरे पर रौनक थी तथा मधुरता थी ।

जिस समय अशफ़ाक का शव फैजाबाद से शाहजहाँपुर लाया जा रहा था, लखनऊ रेलवे स्टेशन पर हजारों लोगों की भीड़ जमा थी । उन्हीं दिनों एक विदेशी

पत्रकार ने लिखा—“लखनऊ की जनता अपने प्यारे अशफ़ाक़ के अन्तिम दर्शनों के लिए रेलवे स्टेशन पर बेचैन होकर उमड़ आई है और वृद्ध लोग इस प्रकार रो रहे हैं, मानो उनका अपना पुत्र चला गया है।”

मृत्युञ्जय भगतसिंह

मौत को ललकारने, उससे जूझने व उसे पराजित करने वाले वीर भगतसिंह का व्यक्तित्व हमारे स्वाधीनता-संग्राम का सबसे रोमांचकारी व्यक्तित्व है। इसका कारण उनके परिवार की क्रान्तिकारी परम्परायें थीं। भगतसिंह के दादा सरदार अर्जुनसिंह में क्रान्ति की भावनायें देदीप्यमान थीं। सरदार अर्जुनसिंह के तीनों पुत्रों—सरदार किशनसिंह, सरदार अजीतसिंह और सरदार स्वर्णसिंह ने पंजाब में क्रान्ति का बीज वपन किया था।

सरदार अर्जुनसिंह पंजाब के जाट परिवार से थे। अंग्रेजी सरकार को जाटों में 'क्रान्तिकारी विचारों' के फैलने से बहुत घबराहट थी। चूंकि पंजाब के जाट उन्हें खेतों में खड़ी फसल और युद्धस्थल पर मार्च करती हुई फौज उपलब्ध कराते थे अतः उनका सरकार विरोधी हो जाना अंग्रेजों के लिए मौत की घंटी बजने जैसा था। फलस्वरूप सरकार ने फौरन इस स्थिति से निपटने का फैसला किया। पहले उन्होंने इस परिवार को लोभ देने का कार्यक्रम बनाया और फिर न मानने पर अज्ञातवास में रहने की पीड़ा। परिवार में सबसे छोटे सरदार स्वर्णसिंह जो भगतसिंह के चाचा थे भरी जवानी में यातनाओं के बावजूद भारत माता की मुक्ति के लिए निरन्तर कार्य करते रहे।

वचपन में भगतसिंह क्रान्तिदल बनाकर अपने साथियों के साथ युद्ध का अभ्यास करते थे। वे तलवार, बन्दूक देखकर गद्गद हो जाते थे। एक बार वे खेलते-खेलते अपने पिता सरदार किशनसिंह के साथ खेतों पर गये और बोले—“पिताजी, ये लोग क्या कर रहे हैं?”

पिता ने उत्तर दिया—“अन्न बो रहे हैं।”

इस पर भगतसिंह ने कहा—“अन्न तो बहुत होता है, हम लोग तलवार बन्दूक क्यों नहीं बोते?”

विद्यार्थी के रूप में भगतसिंह बहुत ही मेधावी और समझदार थे। ग्यारह वर्ष की अल्प आयु में ही उन्होंने रौलट एक्ट के खिलाफ होने वाले प्रदर्शन में भाग लिया। मनुष्य के शोषण और कुछ देशों द्वारा अन्य देशों को गुलाम बनाने के कारणों का उन्होंने छोटी अवस्था में ही अच्छा अध्ययन कर लिया था। वे फुर्सत के हर क्षण का उपयोग पढ़ने में ही करते थे। इन्हीं दिनों उन्हें मिला नेशनल कॉलिज में क्रान्तिकारियों का सम्पर्क। जब भगतसिंह ने एफ० ए० पास किया तो उनके परिवार वालों ने उनके

विवाह का कार्यक्रम बनाया। भगतसिंह सूचना पाते ही वहाँ से नौ-दो ग्यारह हो गये। उन्होंने एक पत्र द्वारा घरवालों को लिखा, “मैं घोड़ी पर चढ़ने की वजाय फांसी पर चढ़ने का अभिलाषी हूँ। कृपया विवाह का विचार फौरन स्थगित कर दीजिए।”

लाहौर से भगतसिंह श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का पत्र लेकर क्रान्तिकारियों के परमहितैषी श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के पास कानपुर गये। विद्यार्थीजी ने उन्हें तुरन्त ‘प्रताप’ में काम पर लगा लिया और बलवन्तसिंह नाम से उनका परिचय करवाया। यहां जाकर वे चन्द्रशेखर आज़ाद, विजयकुमार सिन्हा और शचीन्द्रनाथ सान्याल जैसे देशप्रेमी नौजवानों के सम्पर्क में आये और विद्यार्थीजी द्वारा प्रेरित युद्धमय जीवन के अनुगामी बने। विद्यार्थी जी किसानों और मजदूरों के जबरदस्त हिमायती थे और शोषण रहित समाज की स्थापना के लिए समर्पित थे।

कुछ महीने बाद भगतसिंह के घरवालों को उनका पता मालूम हो गया। कानपुर तब क्रान्तिकारियों का तीर्थ था और विद्यार्थी जी उसके सबसे बड़े अधिष्ठाता थे। यही कारण था कि भगतसिंह के परिवार को उनके गन्तव्य स्थान का पता लगाने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। उन्हें पत्र में लिखा गया कि उनकी मां बहुत बीमार है अतः पत्र पाते ही वे पंजाब के लिए रवाना हो गये और वहां पहुंचकर उन्होंने अपनी गतिविधियां और अधिक तेज कर दीं।

30 अक्टूबर, 1928 को साइमन कमीशन लाहौर आने वाला था। पंजाब के लोगों ने अन्य प्रान्तवासियों की तरह उसका बहिष्कार करने का फैसला किया। सरकार ने दफा 144 लागू कर दी और लोगों को डराया कि दूसरा जलियां वाला बाग बन गया तो क्या करोगे? परन्तु युवकों का हृदय हिलोरें ले रहा था। ठीक समय पर जुलूस निकाला गया। पंजाब के सम्मानित लोगों में अग्रणी लाला लाजपत राय इस जुलूस का नेतृत्व कर रहे थे। “बन्दे मातरम्” और “साइमन वापिस जाओ” के नारों से आसमान गूंज रहा था। अकस्मात् पुलिस ने आगे बढ़कर लाठी चार्ज कर दिया। एक गोरे ने लालाजी पर वार करने प्रारम्भ कर दिये किन्तु लालाजी तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे छाती ताने वहीं खड़े रहे। तभी एक युवक ने आगे बढ़कर लालाजी के स्थान पर वार अपने ऊपर लेने शुरू कर दिये। लालाजी ने उस युवक से पूछा—“आपका नाम क्या है?” किन्तु वह मौन रहा और निरन्तर “साइमन वापिस जाओ” का नारा लगाता रहा। 17 नवम्बर, 1928 को भयंकर रूप से घायल होने के कारण लालाजी की मृत्यु हो गयी।

भगतसिंह का खून उसी दिन से खौल रहा था। 17 दिसंबर, 1928 को उस हत्यारे अंग्रेज अधिकारी साण्डर्स को सायं 4 बजे के करीब गोली से उड़ा दिया गया। वह नीच घायल होकर वहीं गिर पड़ा और मर गया। दूसरे दिन लाहौर के सभी प्रमुख स्थानों पर लाल रंग के इशतहार लगे थे जिनमें लिखा था “साण्डर्स मारा गया, लालाजी की मृत्यु का बदला ले लिया गया।”

साण्डर्स को यमलोक पहुंचाकर तीनों वीर—भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और राजगुरु डी० ए० वी० कॉलेज के भोजनालय में गये जहां से भोजन कर वे तीनों अपने भावी कार्यक्रमों की ओर अग्रसर हो गये। लाहौर में साण्डर्स को मारने वालों की खोज शुरू हुई। स्टेशन पर एक नौजवान सरकारी अफसर अपनी पत्नी के साथ दिखाई दिया। उसके साथ उसका टिफिन और खानसामा भी था। थोड़ी देर में ट्रेन आई और वह अफसर कुलियों को इनाम देता हुआ उस युवती को लेकर फर्स्ट क्लास के कम्पार्टमेंट में जा बैठा। खानसामा सर्वेण्ट कम्पार्टमेंट में जा बैठा। बरतानिया सरकार की खुफिया पुलिस यह न जान सकी कि वह अफसर भगतसिंह, युवती प्रसिद्ध क्रान्तिकारी दुर्गा देवी और खानसामा युवा क्रान्तिकारी राजगुरु हैं। भगतसिंह ने कलकत्ता की कार्नवालिस स्ट्रीट में कुछ समय निवास किया और क्रान्ति के कार्य को और आगे बढ़ाया।

उन्हीं दिनों केन्द्रीय विधानसभा में एक जनविरोधी बिल पास हो रहा था जिससे जनता में बहुत खलबली थी। भगतसिंह और उनके साथियों ने इसका विरोध करने की ठानी। बटुकेश्वर दत्त को भी इस कार्य में शामिल किया गया। 1 अप्रैल 1929 को जब इस बिल पर मत पड़ने वाले थे असेम्बली हाल में बड़े जोर का धमाका हुआ। सभा में बैठे सभी लोग घबरा गये। तभी दूसरा बम भी आ पड़ा। सदस्यों में भगदड़ मच गई, किन्तु महिलाओं की गैलेरी के पास यूरोपियन वेशभूषा में सुसज्जित दो युवक खड़े मुस्कुरा रहे थे। हाल में शान्ति होने पर दोनों युवकों ने लाल पर्चे बांटे। उनमें लिखा था “बहरों को सुनाने के लिए जोर से बोलना पड़ता है।” दोनों युवक पकड़े गये और उन्हें दिल्ली पुलिस के हवाले कर दिया गया। वारह जून, 1929 को सेशन में भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने बयान दिया—“क्रान्तिदल का उद्देश्य देश के मजदूरों व किसानों का समाजवादी राज्य स्थापित करना है।”

इधर साण्डर्स की हत्या में भगतसिंह का हाथ होने के सबूत भी मिल चुके थे। वह मुकदमा अलग चला जिसका फैसला 7 अक्टूबर, 1930 को सुनाया गया। भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी और अन्य सभी को आजन्म कालेपानी की सजा दी गयी।

23 मार्च, 1931 को तीनों देशभक्तों को फांसी दे दी गई। सारे देश में भयंकर तूफान उठ पड़ा और कानपुर में जबरदस्त विद्रोह हुआ। विद्यार्थीजी ने रडचण्डी का आह्वान किया किन्तु अंग्रेजों ने उनकी भी हत्या करवा दी।

प्रणम्य पुरुष पण्डित गेंदालाल दीक्षित

देश के लिए आजादी की मशाल बनकर पल-पल जलनेवाले पण्डित गेंदालाल दीक्षित का जन्म 30 नवंबर, 1888 को आगरा जिले की 'वाह' तहसील के 'मई' ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अभी वह तीन वर्ष के ही थे कि उनकी माता का देहान्त हो गया। हिन्दी मिडिल पास करने के पश्चात् कुछ दिनों तक गेंदालाल इटावा के हाई स्कूल में पढ़ते रहे। तत्पश्चात् वह आगरा चले गये और वहीं से उन्होंने दसवीं कक्षा की परीक्षा पास की। इच्छा-होते हुए भी वह आगे न पढ़ सके और औरैया में डी० ए० वी० पाठशाला में अध्यापक हो गये।

वे बंग-भंग के दिन थे। स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था। उधर महाराष्ट्र में भी शिवाजी उत्सव मनाने का आन्दोलन चला हुआ था। समय की मांग से प्रभावित होकर पण्डितजी ने भी 'शिवाजी समिति' नाम की एक संस्था स्थापित की। संस्था का उद्देश्य नवयुवकों में स्वदेश के प्रति प्रेम तथा भक्ति का भाव उत्पन्न करना था। कुछ समय तक तो पुस्तकों तथा समाचारपत्रों द्वारा ही प्रचार-कार्य किया जाता रहा, किन्तु बाद में बंगाली युवकों को प्राणों की किंचित्मात्र चिन्ता न करते तथा बम व रिवाल्वर का प्रयोग करते देख पण्डितजी ने भी उसी नीति का अनुसरण करने का निश्चय किया।

क्रान्तिकारी कार्य प्रारम्भ करने पर उनको तत्कालीन शिक्षित समुदाय से बड़ी निराशा हुई। किसकी आशाओं पर कार्य आरम्भ होगा, यही चिन्ता उन्हें दिन-रात घेरे रहती थी। बहुत कुछ विचार करने पर उन्हें लगा कि देश में एक ऐसा भी दल है जिसमें वीरता के चिह्न अब भी पाये जाते हैं। उनके विचार में यह दल डाकुओं का दल था। उन्होंने सोचा कि डाकुओं के पास बहुधा अच्छे-अच्छे अस्त्र-शस्त्र भी होते हैं। देश का सभ्य समाज इन लोगों से इसलिए घृणा करता है कि वे लोग जीवन-निर्वाह तथा उदरपूर्ति के लिए ही डाकें डालते हैं। उनका विचार था कि इन लोगों को संगठित कर अमीरों का धन हथियाया जाये जिसके द्वारा शिक्षा का प्रचार हो और जिससे लोगों को सदाचार की शिक्षा दी जाये ताकि वे गरीब तथा निर्बलों पर अत्याचार न कर सकें और इसी प्रकार धन एकत्रित कर अस्त्र-शस्त्र का संग्रह कर विदेशी सरकार को हटाने में योगदान दें।

कुछ दिनों तक यह कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। इस समय तक समिति के काफी सदस्य बन चुके थे। किन्तु वे सब अशिक्षित थे। पण्डितजी को इससे कुछ शान्ति न मिली। वे अध्ययन करने के लिए बम्बई चले गये। वहाँ से लौटकर उन्हें कुछ ऐसे युवक मिले, जिनसे यह आशा बंधी कि उत्तरप्रदेश में भी बंगाल की भाँति राजद्रोह समिति की नींव डाली जा सकती है। इस उद्देश्य को लेकर वे बहुत से नवयुवकों से मिले तथा उन्हें अस्त्र-शस्त्र देकर उनका प्रयोग भी सिखाया। उन्हीं दिनों पण्डितजी की एक सज्जन से भेंट हुई। वह भी पुलिस के अत्याचारों से व्यथित होकर घर से निकल पड़े थे। उन्होंने एक प्रसिद्ध धनुर्धर से शिक्षा प्राप्त की थी। उनके मिलने से समिति का कार्य जोरों से चलने लगा। उन महाशय को लोग ब्रह्मचारी लक्ष्मणानन्द जी के नाम से बुलाते थे। उन्होंने चम्बल तथा यमुना के बीहड़ों में रहने वाले डाकुओं का संगठन किया था और ग्वालियर राज्य में निवास करते थे। थोड़े ही दिनों में उनके पास एक बहुत बड़ा दल इकट्ठा हो गया था और उन्हें धन भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था।

इसी बीच गेंडालाला जी ने भी अपने कार्य का समुचित विस्तार किया। बहुत से शिक्षित युवक दल में सम्मिलित हुए और कुछ क्रान्तिकारी कार्य भी हुआ। किन्तु धन की कमी ने बहुत बड़ी बाधा उपस्थित कर दी। उधर ब्रह्मचारी जी का दल बहुत साधन-सम्पन्न हो चुका था। दीक्षित जी ने उनसे मिलकर धन एकत्रित करने का निश्चय किया। इस निश्चय के पूर्व 'मातृदेवी' नामक संस्था का संगठन किया जा चुका था। यही संगठन आगे चलकर मैनपुरी पडयन्त्र संगठन के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

'मातृदेवी' का संगठन करने के बाद दीक्षित जी ब्रह्मचारी जी से मिलने ग्वालियर गये। उस समय ब्रह्मचारी जी के दल को गिरफ्तार करने के पूरे प्रयत्न हो रहे थे। दल के एक बेईमान व्यक्ति को प्रलोभन दिया गया कि यदि वह किसी तरह इस दल को गिरफ्तार करा दे तो उसे राज्य की ओर से इनाम भी मिलेगा और जायदाद भी दी जायेगी। वह राजी हो गया और दल को पकड़वाने का पडयन्त्र करने लगा।

क्रान्तिकारियों द्वारा डाका डालने का स्थान निश्चित कर लिया गया था। दल के निवास से वह जगह इतनी दूर रखी गई कि पहुंचने में दो दिन लगे और एक पड़ाव जंगल में देना पड़े। उस समय दल में अस्सी सदस्य थे। जब रातभर चलकर सब सदस्य थक गये और उन्हें भूख लगी तो सरकार के भेदिये ने सबको ले जाकर एक बीहड़ स्थान में ठहरा दिया और स्वयं अपने किसी सम्बन्धी के यहां भोजन लेने के लिए चला गया। थोड़ी देर में गरमा-गरम पूड़ियां आ गईं। होंनी कुछ ऐसी थी कि जो ब्रह्मचारी जी कभी किसी के यहां भोजन नहीं करते थे, उन्होंने भी उस विश्वासघाती व्यक्ति के आग्रह पर कुछ पूड़ियां ले लीं। खाते ही उनकी जवान ऐंठने लगी। फौरन वह विश्वासघाती पानी लाने के बहाने वहां से रफू-चक्कर हो गया। पूड़ियों में इतना जहर मिला हुआ था कि पेट में पहुंचने ही उसने अपना अमर दिखाया।

ब्रह्मचारी जी ने सबको पूड़ियां न खाने का आदेश देकर उस विश्वासघाती पर गोली चलाई, बन्दूक की आवाज होते ही अन्य साथी सम्भल भी न पाये थे कि चारों ओर से सैकड़ों बन्दूकों की आवाजें सुनाई दीं। जंगल में पुलिस के पांच सौ पुलिस के सवार छिपे खड़े थे। दोनों ओर से खूब गोलियां चलीं। जब तक इन लोगों में कुछ भी होश बाकी रहा बराबर गोलियां चलाते रहे। ब्रह्मचारी जी के यों तो हाथ-पैरों में कई गोलियां लग चुकी थीं किन्तु अन्त में एक गोली से उनका हाथ बिल्कुल घायल हो गया और बन्दूक हाथ से गिर गई। गेंदालाल जी के भी कई छर्रे लगे। एक छर्रा उनकी बायीं आंख में लगा जिसके कारण वह आंख जाती रही। इस गोलीकाण्ड में दल के लगभग पैंतीस व्यक्ति खेत रहे।

पण्डित गेंदालाल, ब्रह्मचारी जी तथा उनके अन्य साथी पकड़कर ग्वालियर के किले में बन्द कर दिए गये। गिरफ्तारी का समाचार पाते ही 'मातृदेवी' के कुछ सदस्य किले में जाकर महल देखने के बहाने पण्डितजी से मिले। सब हाल जानकर उन्होंने निश्चय किया कि जैसे भी हो पण्डितजी को छुड़वाया जाये। अपने नेता की गिरफ्तारी का, शिक्षित नवयुवकों के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे दूने उत्साह से काम करने लगे। कार्य ने अच्छा विस्तार पाया। शक्ति का भी संगठन हो गया, किन्तु कई असावधानियों के कारण मामला खुल गया और गिरफ्तारियां शुरू हो गयीं। बात बहुत बढ़ गयी और मैनपुरी पडयन्त्र के नाम से सभी पर मुकदमा चलाया गया।

सरकारी गवाह सोमदेव ने पण्डित गेंदालाल को इस पडयन्त्र का नेता बताते हुए ग्वालियर में उनके गिरफ्तार होने का हाल कह सुनाया। पण्डितजी ग्वालियर से मैनपुरी ले आये गये। किले में बन्द रहने तथा अच्छा भोजन न मिलने के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया था। वह इतने दुर्बल हो गये थे कि स्टेशन से मैनपुरी जेल तक जाने में (केवल एक मील में) उन्हें आठ जगह बैठना पड़ा। उन्हें उस समय तक तपेदिक का रोग भी हो चुका था। उन्होंने पुलिस से कहा कि तुम लोगों ने इन बच्चों को क्यों गिरफ्तार किया हुआ है? बंगाल तथा बम्बई के विद्रोहियों में से बहुतों से मेरा सम्बन्ध है। मैं बहुतों को गिरफ्तार करा सकता हूं, इत्यादि। दिखावे के लिए उन्होंने दो-चार नाम भी बता दिये। पुलिस वालों को निश्चय हो गया कि किले के कष्टों के कारण वे सारा हाल बता देंगे। फिर क्या था पण्डितजी सरकारी गवाह समझे जाने लगे और उन्हें जेल से निकालकर सरकारी गवाहों के साथ रख दिया गया। आधी रात के समय जब पहरा बदला गया तो कमरे में अंधेरा था। लालटेन जलाने पर मालूम हुआ कि पण्डित गेंदालाल एक और सरकारी गवाह रामनारायण के साथ फरार हो चुके हैं। बहुत प्रयत्न करने पर भी दोनों में से कोई भी पुलिस के हाथ न लगा।

पण्डित गेंदालाल, रामनारायण को साथ लेकर कोटा पहुंचे। वहां आने पर एक सम्बन्धी ने आपकी समुन्नित मन्त्रायता की किन्तु पुलिस द्वारा उनकी वहां भी नन्नाश

हो रही थी, अतः वे उस जगह भी अधिक दिन न ठहर सके। कोटा से विदा होने से पूर्व एक विशेष घटना और घटी। रामनारायण का दिमाग घूम गया। उसके दिल में न जाने क्या आया कि वह पण्डितजी के भाई द्वारा भेजे गए रुपये-कपड़े लेकर कोई बहाना बना तथा उन्हें एक कोठरी में बन्द छोड़कर भाग गया। रोग का दौर, निर्बलता और उस पर तीन दिन तक कोठरी में बिना अन्न-जल पड़े रहना पण्डितजी के ही बस की बात थी। अन्त में व्यथित हो उन्होंने किसी से जंजीर खुलवाई और वहां से पैदल ही चल पड़े। एक भी पैसा पास न था, फिर भी जैसे-तैसे वह आगरा पहुंच गए। वहां एक-दो मित्रों ने थोड़ी-बहुत सहायता की। उस वक्त तक पण्डितजी की हालत बहुत खराब हो गयी थी। रोग ने सांघातिक रूप धारण कर लिया था। कोई भी ऐसा मित्र या सम्बन्धी न था जिसके यहां वे एक दिन भी ठहर पाते। सभी मित्र विपत्ति में थे। अस्तु विवश हो वह घर चले गये।

घर वाले पहले ही पुलिस के अत्याचारों से दुःखी थे अतः उनको आया देख सब भयभीत हो गये। सोचने लगे पुलिस को बता दिया जाये। पण्डितजी ने अपने पिता को समझाया और कहा—“आप चिन्ता न करें मैं शीघ्र ही चला जाऊंगा।” और दो ही दिन बाद वे वहां से चले गये। उस समय उनका स्वास्थ्य इतना खराब था कि उन्हें दस कदम चलना भी मुश्किल था, मूर्च्छा आ जाती थी। उन्होंने दिल्ली आकर जीवन-निर्वाह के लिए एक प्याऊ पर पानी पिलाने की नौकरी कर ली। उनका स्वास्थ्य दिन पर दिन बिगड़ता जा रहा था। अपनी अवस्था का परिचय देते हुए उन्होंने एक आत्मीय को पत्र लिखा। पत्र मिलते ही वह सज्जन उनकी पत्नी को लेकर दिल्ली पहुंच गये।

काफी उपचार के बाद भी पण्डितजी की अवस्था बिगड़ती ही चली गयी। उन्हें पल-पल में मूर्च्छा आने लगी। यह देखकर उनकी पत्नी फूट-फूटकर रोने लगी। उनके आत्मीय से यह हृदयविदारक दृश्य न देखा गया और वे बाहर बैठकर रोने लगे। जब पण्डितजी को होश आया तो उन्होंने अपने आत्मीय को सान्त्वना देते हुए कहा—“तुम रोते क्यों हो? देश की सेवा में मेरा यह हाल हुआ है। दुखिया भारत माता की स्थिति देखकर मेरी यह अवस्था हुई है। तुम लोग दुःख मत करो। यदि देश-सेवा हेतु मेरे प्राण चले भी गये तो मैं समझूंगा कि मैंने अपना कर्तव्यपालन किया है। यदि तुम लोग इस कार्य में मेरी सहायता करोगे तो मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी।”

उन्होंने अपनी पत्नी से पूछा—“तुम क्यों रोती हो?”

पत्नी ने रोते हुए कहा—“मेरा इस संसार में कौन है?”

पण्डितजी ने एक गहरी सांस ली, फिर मुस्कराकर बोले—“आज देश में लाखों विधवाओं का कौन है? लाखों अनाथों का कौन है? करोड़ों किसानों का कौन है? दासता की वेड़ियों से जकड़ी भारत माता का कौन है? जो इन सबका मालिक है

वही तुम्हारा भी है। तुम अपने को परम सौभाग्यवती समझना, यदि मेरे प्राण इसी प्रकार देश की सेवा में निकल जायें और मैं शत्रु के हाथ न आऊँ। मुझे दुःख है तो केवल इतना कि मैं अत्याचारियों को उनके अत्याचार का बदला न दे सका, बस मन की मन में रह गयी। मेरा यह शरीर नष्ट हो जायेगा, किन्तु मेरी आत्मा इन्हीं भावों को लेकर दूसरा शरीर धारण करेगी। अब की बार नई शक्तियों के साथ जन्म ले मैं शत्रुओं का नाश करूँगा।” उस समय उनके चेहरे पर दिव्य प्रकाश छा गया था। वे फिर कहने लगे—“रहा खाने-पाने का, तो तुम्हारे पिता और भाई हैं, मेरे कुटुम्बी हैं और फिर मेरे मित्र हैं जो तुम्हें अपनी माता समझकर तुम्हारा आदर करेंगे। तुम किसी बात की चिन्ता न करना। मुझे दुःख यही है कि अन्तिम समय में किसी मित्र से न मिल सका।”

इसके बाद उन्हें बेहोशी आ गयी। उनकी दशा गम्भीर हो गयी। उनके आत्मीय ने सोचा कि यदि यहीं उनके प्राण निकल गये तो उनका दाह-संस्कार भी कठिन हो जायगा और यदि पुलिस को पता चल गया तो और भी विपत्ति आयेगी अतः वे उन्हें एक सरकारी अस्पताल में भरती करा कर उनकी पत्नी को यथास्थान पहुंचा आये। जब लौटकर आये तो देखा पण्डितजी चुपचाप विस्तर पर पड़े थे। वे इस संसार में नहीं थे, केवल उनका शरीर पड़ा था। उस समय दिन के दो बजे थे और सितम्बर, 1920 की 21 तारीख थी।

पण्डितजी ने जिस देश के लिए सर्वस्व त्यागा, इतने कष्ट सहें और अन्न में प्राण भी दे दिये, उस देश में किसी ने यह भी न जाना कि पण्डित गंडालाल कहां विलीन हो गये। किन्तु जब भारत का सही इतिहास लिखा जाएगा तब देशवासियों को उनकी याद आयेगी और उनका नाम स्वर्णक्षेत्रों में लिखा जायेगा।

बागी करतारसिंह सरावा

अल्पायु में महान कार्य करने वाले कुछ गिने-बुने वीरों में करतारसिंह सरावा का नाम सर्वोपरि है। जिस वीर ने फांसी की सजा सुनाये जाने पर जज को 'थैंक-यू' कहा और जिसका वजन फांसी पर चढ़ने से पहले दस पौण्ड से अधिक बढ़ गया, वह वीर फांसी के समय केवल बीस वर्ष का ही था। इस साहसी बालक का जन्म सन् 1896 में लुधियाना के सरावा ग्राम में हुआ था। उसके पिता सरदार मंगलसिंह उसे बाल्यावस्था में ही छोड़कर संसार से चल बसे थे। बालक करतारसिंह बहुत हंसमुख और मिलनसार था अतः उसके सभी साथी उससे बहुत स्नेह करते थे और उसे अफलातून कहकर पुकारते थे।

बालक करतार प्राइमरी कक्षा की शिक्षा पूर्ण कर अपने चाचा के पास उड़ीसा चला गया जहां उसने मैट्रिक की परीक्षा पास की। कॉलेज के दिनों में उसने पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त बंगालियों की क्रान्तिकारी योजनाओं से परिचय भी प्राप्त किया। इन्हीं दिनों करतारसिंह के कुछ रिश्तेदार अमरीका जा रहे थे। उसने कॉलेज की पढ़ाई छोड़कर अमरीका जाने का निश्चय किया और 1 जनवरी, 1912 को वह सानफ्रांसिस्को पहुंच गया। अमरीकी लोग उन दिनों भारतीयों को कुली अथवा असभ्य कहकर पुकारते थे। युवक करतारसिंह के कोमल हृदय पर इससे बड़ी ठेस लगी और उसने प्रण किया कि वह भारतीयों की स्वाधीनता के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देगा। तभी लाला हरदयाल से हुई एक मुलाकात ने सोने में सुहागे का काम किया।

संयोग यह था कि 21 अप्रैल, 1913 को अमेरिका में ओरेगन प्रान्त के स्टेरिया नगर में प्रवासी भारतीयों का एक विशाल सम्मेलन हुआ जिसकी अध्यक्षता लाला हरदयाल ने की। अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए लालाजी ने मांग की कि भारत की आजादी के लिए तन-मन और धन देने वाले नवयुवक आगे आने चाहिए। करतारसिंह उछलकर सामने आया और उसने देश पर मर मिटने वालों में सबसे पहले अपना नाम लिखवाया। उसके बाद कई अन्य नौजवान गदर पार्टी के स्वयंसेवक के रूप में आगे आये। करतारसिंह ने न्यूयार्क में हवाई जहाज की एक कम्पनी में भर्ती होकर हवाई जहाज बनाना और चलाना सीख लिया। साथ ही वह 'गदर' अखबार के पंजाबी संस्करण का सम्पादन भी करता रहा।

पहले विश्वयुद्ध से पूर्व अमरीका में बसने वाले चार हजार भारतवासियों ने अपना सर्वस्व नीलाम कर भारत में क्रान्ति के लिए गोला-बारूद खरीदा। जैसे ही

अंग्रेजों को इस योजना का पता चला उन्होंने सभी भारतीयों को बन्दरगाह पर ही पकड़ लिया । करतारसिंह सरावा अपने साहस और बुद्धिमानी के बल पर 16 सितम्बर, 1914 को कोलम्बो पहुँचने में सफल हो गये । वहाँ बिना रुके वह सीधे पंजाब पहुँचे । उनके हृदय में विद्रोह की आग धधक रही थी । पंजाब में सुयोग्य नेता की कमी देखकर युवक करतारसिंह ने अपने एक विश्वस्त व्यक्ति को उत्तरप्रदेश में रासबिहारी बोस के पास भेजा और कहलवाया कि इस समय पंजाब को आपकी बहुत आवश्यकता है । रासबिहारी बोस क्रान्तिकारी योजनाओं में अत्यधिक व्यस्त थे, अतः उन्होंने तुरन्त शचीन्द्रनाथ सान्याल को पंजाब की स्थिति का जायज़ा लेने पंजाब भेज दिया । नवम्बर, 1914 में शचीन्द्रनाथ सान्याल लुधियाना जाकर करतारसिंह सरावा से मिले । उन्होंने देखा कि लगभग तीन सौ से अधिक व्यक्ति किसी उपयुक्त संकेत पर विद्रोह का आह्वान कर देंगे । करतारसिंह शचीन्द्रनाथ को लेकर जालन्धर भी गये । शचीन्द्रनाथ ने उन्हें संगठन सम्बन्धी सभी आवश्यक सूचनाएँ दीं और उनकी रिवाज़ तथा गोली इत्यादि की मांग को भी पूरा किया । उन्होंने लाहौर जाकर वहाँ क्रान्तिकारियों की तत्परता का अनुमान लगाया तथा महसूस किया कि पंजाब के क्रान्तिकारियों में ताकत और जोश तो बहुत है मगर संगठन और संयम की कमी है । फिर भी शस्त्र इकट्ठे किये गये और फ़ौजी छावनियों में भारतीय सिपाहियों को विद्रोह के लिए तैयार किया गया ।

पंजाब में विद्रोह का संचालन करने के लिए महाराष्ट्र का विप्लवी वीर विष्णु गणेश पिंगले भी अमरीका से सीधा पंजाब जा पहुँचा । पिंगले एक सुन्दर नौजवान था जो पंजाबी बहुत अच्छी बोल लेता था । शचीन्द्र और पिंगले ने रासबिहारी के लिए अमृतसर और लाहौर में दो मकान किराये पर ले लिये । क्रान्ति को सफल बनाने के लिए करतारसिंह ने जी-तोड़ मेहनत की । कभी मोगा, कभी फ़िरोजपुर, कभी लाहौर, कभी अमृतसर जाकर उन्होंने लोगों को क्रान्ति की गतिविधियों से परिचित कराया । वह साईकिल पर बैठकर प्रतिदिन चालीस-पचास मील जाया करते थे । रासबिहारी बोस के प्रयत्न स्वरूप असम, बंगाल, यू० पी० और पंजाब सभी एक संगठन में वंशकर विप्लव के लिए तैयार हो चुके थे । अवसर आते ही रासबिहारी बोस अमृतसर पहुँचे तथा पंजाब में सैनिकों से मिलते रहे और उन्हें बताते रहे कि 21 फ़रवरी, 1915 को सब छावनियों में अंग्रेज सैनिकों पर एक ही समय एकदम आक्रमण किया जायेगा । यह कार्य रात्रि के समय होगा और यातायात तथा संचार के सभी साधन ठप्प कर दिये जायेंगे । सरकारी खजानों पर भारतीयों का कब्ज़ा होगा और सभी कैदियों को जेल से मुक्त कर दिया जायेगा ।

ऐसी आशा की जा रही थी कि पंजाब में विद्रोह होने ही सारे देश में एकदम क्रान्ति का विगुल बजा दिया जायेगा । लाहौर, लायलपुर, फ़िरोजपुर, बनारस, मेरठ और बैरकपुर की छावनियों में करतारसिंह सरावा के नाम से वीर सैनिकों की भुजाएँ फ़ड़क उठनी थीं । दुर्भाग्यवश सरकार के एक भेदिये कृपालसिंह ने 19 फ़रवरी को

डिप्टी सुपरिन्टेंडेंट पुलिस को इस योजना की खबर भिजवा दी। लाहौर, दिल्ली, फिरोजपुर, बनारस और कानपुर में सैकड़ों लोग गिरफ्तार किये गये। 1857 के विप्लव के बाद भारत के स्वाधीनता-संग्राम की यह दूसरी विफलता थी। विप्लवकारियों के जितने केन्द्र थे उन सबका पता लगा लिया गया। रावलपिण्डी शहर में पूरी की पूरी भारतीय पल्टन को बरखास्त कर दिया गया। करतारसिंह, जगतसिंह और हरनामसिंह टुण्डा तीनों ब्रिटिश राज्य की सीमा से बाहर चले गये।

करतारसिंह के मन में विचार आया कि वापस उन्हीं स्थानों पर जाया जाये जहाँ लोग गिरफ्तार हो रहे हैं और यह सोचकर वह सरगाथा लौट आये और तुरन्त विप्लव के कार्य में जुट गये। किन्तु कुछ ही दिनों में वह पकड़े गये और लाहौर ले आये गये। इस समय उनकी आयु केवल अठारह वर्ष थी। सोलह व्यक्तियों पर मुकदमा चलाया गया जो इतिहासप्रसिद्ध लाहौर षडयन्त्र केस के नाम से जाना जाता है। इसमें विनायक गणेश पिंगले, करतारसिंह सरावा और झांसी के पण्डित परमानन्दजी शामिल थे।

जब युवक करतारसिंह को जज के सामने लाया गया तो उनके मुखमण्डल पर एक अपूर्व तेज दिखाई पड़ रहा था। डेढ़ वर्ष तक मुकदमा चला। अन्त में फांसी की सजा सुनाई गयी। करतारसिंह ने सजा सुनते ही जज को “थैंक यू” कहकर सम्बोधित किया। जज की इच्छा थी कि इतनी कम आयु वाले युवक को फांसी न देकर कालेपानी की सजा दी जाये किन्तु तभी करतारसिंह ने कहा, “मैं काले पानी में पड़े रहकर सड़ना नहीं चाहता। मैं फांसी चढ़ना चाहता हूँ जिससे दोबारा जन्म लेकर भारत माता की आजादी की लड़ाई में भाग ले सकूँ और जब तक मेरा देश आजाद न हो जाये तब तक इसी तरह मरता और जन्म लेता रहूँ।”

“भारत माता की जय” बोलकर 16 नवम्बर, 1915 को वह वीर फांसी पर चढ़ गया। मरने से पहले उसने अपने दादा तथा अन्य रिश्तेदारों से केवल एक ही निवेदन किया और वह यह कि फांसी के बाद उसे केवल करतारसिंह नहीं ‘बागी करतारसिंह’ के नाम से याद किया जाये।

शे चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, यतीन्द्रनाथ दास, भगतसिंह, राजेन्द्र लाहिड़ी, अशफक उल्लाह खां, मन्मथनाथ गुप्त तथा विष्णुशरण दुबलिश इत्यादि ।

शचीन्द्र ने एसोसिएशन का संविधान तैयार किया और उसे कलकत्ता के गुप्त प्रेस में उपलब्ध पीले कागज पर छपवाया । इस एसोसिएशन का ध्येय था राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक शोषण से मुक्त व एक सम्पन्न भारत का निर्माण । बाद में भगतसिंह के सुझाव पर पार्टी के नाम में 'सोशलिस्ट' शब्द जोड़ दिया गया । 1924 में शचीन्द्र फिर गिरफ्तार कर लिये गये और 1927 में उन्हें फिर आजीवन कारावास की सजा हुई । सन् 1937 में कांग्रेस का मंत्रिमंडल बनने के उपरान्त ही वे जेल से मुक्त हो सके । इस अवधि में उनके लेख श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के विद्रोही पत्र प्रताप में बराबर छपते रहे और क्रान्तिकारियों का मनोबल बनाए रखने का कार्य करते रहे ।

अप्रतिम राष्ट्रभक्त सोहनलाल पाठक

श्री सोहनलाल पाठक क्रान्ति युग के उन तेजस्वी देशभक्तों में से एक थे जिन्होंने अपने जीवन में प्राप्त सभी सुख-सुविधाओं को ठुकराकर हंसते-हंसते मृत्यु का आलिंगन किया। उनके देशप्रेम तथा आत्म-त्याग की पवित्र भावना से हमारा स्वाधीनता-संग्राम अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ और भारत माता को दासता की बेड़ियों से मुक्ति मिली।

श्री सोहनलाल पाठक को जन्म देने का श्रेय अमृतसर जिले के पट्टी गांव को प्राप्त हुआ। उनके पिता पण्डित जिन्दा राय धार्मिक और सात्विक प्रकृति के सत्पुरुष थे। सोहनलाल ने अपने गांव के स्कूल से मिडिल पास किया और नहर के महकमें में नौकरी कर ली। वे मेधावी छात्र थे अतः उन्होंने कक्षा पांच से कक्षा आठ तक वजीफा प्राप्त किया और अपनी पढ़ाई पूर्ण की। नहर की नौकरी छोड़कर पाठकजी ने नार्मल परीक्षा पास की और डी० ए० वी० स्कूल में अध्यापक के पद पर काम करने लगे। उन दिनों स्कूल इन्स्पेक्टर श्री जलालुद्दीन स्कूल आये और उन्होंने पाठकजी से कोई गीत सुनाए जाने का आग्रह किया। पाठकजी ने वीर हकीकत राय के बलिदान का गीत सुनाया जिससे इन्स्पेक्टर महोदय बहुत खफा हुए और उन्होंने स्कूल के हेडमास्टर से बालक सोहनलाल पर खास निगाह रखने का हुक्म दिया।

1908 में जब लाला हरदयाल लाहौर आये तो पाठकजी का उनसे निकट का सम्पर्क हो गया। हेडमास्टर साहब ने उन्हें ताकीद दी कि या तो वे लाला हरदयाल से मेल-मुलाकात बन्द कर दें अन्यथा स्कूल से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लें। पाठकजी ने स्कूल से त्यागपत्र देकर अपने दृढ़ निश्चय और देशप्रेम का परिचय दिया। लाला हरदयाल के कहने पर उन्होंने ब्रह्मचारी आश्रम में बहुत थोड़े वेतन पर नौकरी कर ली। तभी उनके एक मित्र सरदार ज्ञानसिंह ने किराया भेजकर पाठकजी को बैंक बुला लिया। चूँकि वहां की सरकार को पाठकजी की अंग्रेज विरोधी गतिविधियां नागवार गुजरीं अतः पाठकजी गदर पार्टी का काम करने के इरादे से अमरीका चले गये। इससे पूर्व वे सरदार ज्ञानसिंह की सरपरस्ती में रहे जहां उन्होंने जंगलों में जाकर मातृभूमि की आज़ादी के लिए फांसी पर चढ़कर मरने की शपथ उठाई।

पाठकजी अमरीका जाने से पहले हांगकांग गये जहां वे भारतीय बच्चों का अध्यापन करते रहे। उन्हें यह काम इसलिए उपयुक्त लगा कि भारतीय बालक अपनी उस महती

परीक्षा का ज्ञान प्राप्त कर सकें जिससे आने वाले समय में उन्हें उत्तीर्ण होना था। इसी समय पाठकजी ने अपने भाई और पिताजी को पत्र लिखकर कुछ रुपए मंगवाये। अपने मनीला प्रवास में उन्होंने बन्दूक चलाने का प्रशिक्षण भी प्राप्त किया। थोड़े-बहुत अभ्यास के बाद वे बन्दूक चलाने में अभ्यस्त हो गये।

सन् फ्रांसिस्को पहुंचकर पाठकजी गदर पार्टी में शामिल हो गये और लाला हरदयाल के निर्देश पर कार्य करने लगे। सन् 1914 में गदर पार्टी को ओर से सभी देशों में गदर का प्रचार करने के लिए कार्यकर्ता विभिन्न देशों में भेजे गये। पाठकजी भी एक उत्साही कार्यकर्ता नारायणसिंह के साथ अमरीका से बर्मा भेजे गये। दोनों महानुभाव पहले बैंकाक गये और कुछ दिन वहां प्रचार-कार्य कर रंगून जा पहुंचे। रंगून में गदर पार्टी का केन्द्र बनाकर उन्होंने काम शुरू कर दिशा। उत्तरी भारत में 21 फरवरी, 1915 का दिन विप्लव के लिए नियत किया गया था। रंगून में पाठकजी ने अंग्रेजों की फौज को समझाया कि यदि जान ही देनी है तो देश के लिए दो। हमें गुलाम बनाने वाले अत्याचारी अंग्रेजों के लिए क्यों जान देने हो।

सिपाहियों में विद्रोह की अग्नि सुलगने लगी। पाठकजी को उन सैनिकों की ओर से किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका नहीं थी। देश का दुर्भाग्य था कि एक देशद्रोही फौजी जमादार ने उनके साथ बहुत बड़ा विश्वासघात किया और उन्हें अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया। पाठकजी की जेब में पकड़े जाते वक्त तीन पिस्तौलें व दो सौ सत्तर गोलियां थीं। वे चाहते तो उस गद्दार को एक क्षण में मौत के मुंह में पहुंचा देते किन्तु न जाने उस समय पाठकजी ने ऐसा क्यों नहीं किया। वे उसे समझाते रहे कि तू और मैं भाई-भाई हैं। मुझे पकड़वाकर तू एक जालिम हुकूमत का साथ दे रहा है। उनकी बात सुनकर शायद घटिया से घटिया आदमी अपना मत बदल लेता किन्तु उस धूर्त पर पाठकजी के सारगर्भित वाक्यों का कोई असर न हुआ। उसने पाठकजी की एक भी न सुनी और उन्हें घसीटता हुआ ले गया। पाठकजी अत्यन्त उदारहृदय व्यक्ति थे, उन्होंने उसे जान से मार डालना उचित न समझा और स्वयं को उसके हवाले कर दिया। पाठकजी को कैद कर मांडले जेल भेज दिया गया।

यद्यपि पाठकजी ने हिसा की कोई कार्रवाई नहीं की किन्तु फिर भी उन पर धारा 124, 124 ए, और 131 भारतीय दण्ड विधान तथा भारत रक्षा अधिनियम के अधीन मुकदमा चलाया गया और यह आरोप लगाया गया कि वे ब्रिटिश सम्राट की प्रजा को भड़काकर सरकार का तख्ता उलटने का काम कर रहे थे। पाठकजी के कार्यकर्ताओं में एक व्यक्ति डर के कारण सरकारी गवाह हो गया। उसने बयान दिया कि पाठकजी ने एक कार्यकर्ता चीन भेजा है, जहां एक जर्मन अधिकारी दो सौ भारतीयों को दर्मा पर आक्रमण करने के लिए प्रशिक्षित कर रहे थे। जेल में अंग्रेज

गवर्नर पाठकजी से मिलने गया और उनसे बोला—“मिस्टर पाठक, दुम माफ़ी मांग लो तो हम दुम को छोड़ देगा।”

पाठकजी गरजकर बोले “अजीब बात है जुल्म करने वाला माफ़ी न मांगे। उल्टा चोर कोतवाल से माफ़ी मांगने की बात कहे। मुझे अपना कर्तव्य करने दीजिए और आप अपना काम कीजिए।”

15 दिसम्बर, 1915 को भारत मां का यह वीर सपूत फांसी पर झूलकर शहीद हो गया।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण

हर प्रकार के अन्याय और अत्याचार के खिलाफ संघर्ष और त्यागमय जीवन के प्रतीक का नाम जयप्रकाश नारायण था। राजनीति में नैतिकता का आदर्श रखने वाले और सदैव सत्ता की होड़ से दूर रहने वाले जयप्रकाश जी ने आजीवन राष्ट्र को क्रान्तिकारी एवं रचनात्मक नेतृत्व दिया। दो महान क्रान्तियों (1942 व 1977) के श्रेय के एकमात्र अधिकारी होते हुए भी उन्होंने सत्ता से दूर रहने के अपने आजीवन संकल्प को पूरी तरह निभाया। यही कारण था कि वे नई पीढ़ी के लिए शाश्वत-प्रेरणा के प्रकाश-पुंज रहे।

उस महान स्वाधीनता सेनानी, समाजवाद के प्रणेता, लोकशाही के उद्धारक और करुणामय महामानव का जन्म 11 अक्तूबर, 1902 को उत्तरप्रदेश और बिहार की सीमा पर बसे गांव सिताब दियारा के एक कुलीन श्रीवास्तव परिवार में हुआ था। बालक जयप्रकाश बहुत ही मेधावी और संवेदनशील थे। उनकी बुद्धिमत्ता और सहृदयता के अनेक दृष्टान्त हम सबने सुन रखे हैं। पिता की सरकारी नौकरी के कारण वे जमकर कहीं पढ़ नहीं पाये किन्तु कुशाग्रबुद्धि होने के कारण उन्हें पढ़ाई में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई। अठारह वर्ष की आयु में जब उन्होंने पटना कॉलेज में दाखिला लिया, तभी से उनमें राष्ट्रीयता की भावना घर करने लगी थी।

कॉलेज की शिक्षा पूर्ण कर—जयप्रकाश उच्च शिक्षा प्राप्त करने अमेरिका गये। वहां रहकर उन्होंने उस समय के महान लेखकों और विचारकों के ग्रंथों का अध्ययन किया और अमेरिका में ही सर्वप्रथम जयप्रकाश जी ने पूंजीवाद के घातक परिणामों को समझा और अमेरिका के साम्यवादी दल के माध्यम से साम्यवाद की नीतियों और उसकी कार्यप्रणाली को भली-भांति समझा। कार्ल मार्क्स की विख्यात पुस्तक 'दास कैपिटल' का भी उन्होंने अमेरिकी प्रवास में ही अध्ययन किया। वे मैनुअल गोमेज नाम के तत्कालीन ट्रेड यूनियन नेता के साथ रहे और वहीं उन पर लेनिन और जनवादी विचारों की जबरदस्त छाप पड़ी।

परिणाम यह हुआ कि उनमें सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की आकांक्षा इतनी तीव्र हो उठी कि उन्होंने विज्ञान की पढ़ाई छोड़कर समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की पढ़ाई प्रारम्भ कर दी। अमेरिका ही नहीं, रूस के लेखकों की जानी-मानी पुस्तकों का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। इस अध्ययन ने उनकी मानसिकता को एक

नया मोड़ दिया। वे सोवियत संघ जाकर लेनिन और उनके सहयोगियों की कार्यप्रणाली का व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त कर भारत में वैसी ही क्रान्ति करना चाहते थे। किन्तु अंग्रेज हुकूमत से जयप्रकाश जी को स्वदेश लौटने की आज्ञा इसी शर्त पर मिली थी कि वे सोवियत संघ नहीं जायेंगे। उन्होंने सोचा कि स्वदेश में ही अन्ततोगत्वा सारा काम करना है और यदि वे स्वदेश ही न लौट सके तो उनका सारा चिन्तन और मनन व्यर्थ जायेगा, अतः वे 1929 में भारत लौट आये। यह वह समय था जब गांधीजी अपने कार्यक्रमों द्वारा भारतीय जनता में सामाजिक चेतना उत्पन्न कर रहे थे। जयप्रकाश नारायण गांधीजी के प्रभाव से अछूते न रह सके और उन्होंने विदेशी वस्त्रों को उतारकर धोती, कुर्ता और टोपी पहनना प्रारम्भ कर दिया।

स्वदेशी की दिशा में उन्होंने न केवल वस्त्रों तक ही अपने आपको सीमित रखा अपितु वे यह भी सोचने लगे कि भारतवर्ष में जो जनक्रान्ति की जाये वह भारतीय रीति-नीति के अनुसार ही हो। हिंसा और वर्ग-संघर्ष की विचारधारा की तुलना में गांधीजी द्वारा चलाये गये अहिंसक आन्दोलन उन्हें अधिक उपयुक्त लगे। जयप्रकाश जी इस समय तक यह समझ चुके थे कि इस देश की समस्याएँ बहुत पेचीदा हैं और भारत की स्वतन्त्रता ही उनकी पीढ़ी की सबसे बड़ी समस्या है।

गांधीजी की विचारधारा के निकट आने के कारण वे गांधीजी के साथ ही 1929 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में सम्मिलित हुए। पण्डित नेहरू इस अधिवेशन के अध्यक्ष बनाये गए थे। यहीं श्री नेहरू से उनकी प्रथम भेंट हुई। 1932 में कांग्रेस गैरकानूनी संस्था करार दे दी गई और सभी प्रसिद्ध नेता जेल में ठूस दिये गये। उन दिनों कांग्रेस के सचिव के रूप में जयप्रकाश जी ने जो काम किया वह हमारे देश के संगठनात्मक प्रयासों में अद्वितीय है।

1932 में ही जयप्रकाश जी पहली बार गिरफ्तार कर जेल भेजे गये। बरतानिया सरकार को ऐसा लगा कि जयप्रकाश नारायण ही उस समय के सभी नेताओं से अधिक खतरनाक हैं। जेल प्रवास में पुनः जयप्रकाश जी ने गहन और विस्तृत अध्ययन किया तथा उन रणनीतियों का नियोजन किया जिन पर चलकर उन्हें भविष्य में कार्य करना था। जयप्रकाश जी के विचारों में इन दिनों अपूर्व दृढ़ता आई और उन्होंने अपने आपको सम्पूर्णतः देशसेवा में लगा देने का संकल्प लिया।

जेल से बाहर आते ही जयप्रकाश जी बिहार भूकम्प से व्रस्त लोगों की सहायता में लग गये। 1939 में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। जयप्रकाश नारायण ने घोषणा की—“यह युद्ध साम्राज्यवादी युद्ध है। हम इसका विरोध करेंगे। इस मौके का फायदा उठाकर हमें अपने को स्वतन्त्र कराना है।”

1940 में वे फिर जेल में बन्द कर दिये गए किन्तु वहां से वे चोरी-छिपे लेख लिखकर बाहर भेजते रहे जो ‘नेशनल हैराल्ड’, ‘बाम्बे क्रानिकल’ और ‘सर्चलाइट’ इत्यादि पत्रों में छपते रहे। जेल में उन्होंने पचास साथियों के साथ एक माह से अधिक

भूख हड़ताल रखी। तैनीसवें दिन सरकार को झुकना पड़ा। तब जाकर उन लोगों ने हड़ताल समाप्त की।

फिर 1942 का ऐतिहासिक वर्ष आया। अगस्त क्रान्ति का नारा “करो या मरो” गूँज रहा था। जयप्रकाश नारायण जेल में अर्धर हो रहे थे। उन्हें ऐसे समय में जेल की कोठरियों में बन्द रहना वर्दाशत न था। जनता जान पर खेल रही हो और जयप्रकाश मजबूर हों—ऐसा नहीं होने पायेगा। अपूर्व मेधा वाले जयप्रकाश नारायण ने जेल से निकलने की योजना बना डाली। वे सचमुच अपने पांच अन्य साथियों सहित हजारीबाग जेल से बाहर निकल गये। बनारस से दिल्ली, दिल्ली से बम्बई, फिर अहमदाबाद, फिर मद्रास, फिर कलकत्ता गये। उन्होंने सब जगह लोगों को संगठित किया, क्रान्ति का शुभारम्भ किया। अंग्रेज सरकार बौखला उठी। जयप्रकाश उनके लिए बहुत बड़ा सिरदर्द थे। सरकार ने उन्हें जिन्दा अथवा मृत पकड़ने वाले को इक्कीस हजार रुपया इनाम देने की घोषणा की।

छिपते-छिपाते जयप्रकाश नेपाल पहुँच गये। कुछ दिन वहाँ रहे और फिर वापिस कलकत्ता आ गये। लोगों ने सुभाष बाबू के साथ बाहर रहकर काम करने की सलाह दी किन्तु वे देश की धरती पर ही न्यौछावर होना चाहते थे अतः वह स्वदेश लौटे। 19 सितम्बर, 1943 को सूट-बूट से लैस जयप्रकाश एक पंजाबी सिपाही द्वारा लाहौर स्टेशन पर पहचान लिये गये। उसने उन्हें तत्काल लाहौर जेल में बन्द करवा दिया। इस जेल में उन्हें बहुत यातनाएं दी गईं। उन्हें गर्म सलाखों से दागा गया, बर्फ की सिल्लियों पर लिटाया गया और उनकी आंखों व अन्य नाजुक अंगों को असह्य पीड़ा पहुँचाई गयी। इतना सब होने पर भी जयप्रकाश ने किसी प्रकार की समझौतावादी नीति अपनाने की सहमति नहीं दी। उन्होंने कहा—“देश हमारा है, इसके मालिक हम हैं, आप लोग नहीं। मुझे मार भी डाला गया तो मैं समझूंगा कि मेरा जीवन सार्थक हो गया।”

सरकार ने जयप्रकाश नारायण पर राजद्रोह और हत्या का मुकदमा चलाया। देश के सभी नामी वकील उनकी पैरवी के लिये तैयार थे। विदेशों से वकीलों ने अपनी सेवाएं अर्पित कीं अन्त में बरतानिया सरकार ने उन पर मुकदमा चलाने का विचार त्याग दिया। अंग्रेजों को विश्वयुद्ध में मात खानी पड़ी। 11 अप्रैल, 1946 को आगरा जेल से जयप्रकाश नारायण छोड़ दिये गये। पटना में उनका अभूतपूर्व अभिनन्दन हुआ।

कविवर दिनकर की ओजस्वी वाणी गूँज उठी—

“जयप्रकाश है नाम समय की

करवट का अंगड़ाई का।

भू-चाल बवंडर के ख्वाबों से

भरी हुई तरुणाई का।

है जयप्रकाश वह नाम जिसे
इतिहास समादर देता है ।
बढ़कर जिसके पदचिन्हों को
उर पर अंकित कर लेता है ।”

यह वह समय था जब कांग्रेस के अनेक बड़े नेता संघर्ष के रास्ते से ऊब चुके थे । वे सत्ता हस्तान्तरण की बातचीत में लग चुके थे और उन्हें जैसे-तैसे सत्ता-प्राप्ति की इच्छा झकझोर रही थी ।

यह देखकर जयप्रकाश जी कांग्रेस से अलग हो गये । उन्होंने देश-विभाजन के विरोध में सभायें कीं । लोगों को इस कदम के कारण होने वाली आत्मघातक स्थिति से अवगत कराया किन्तु विभाजन होकर रहा । जयप्रकाश नारायण ने 1948 में एक विराट किसान आन्दोलन का संचालन किया । नेहरूजी ने उन्हें उप-प्रधान मंत्री और अपने बाद प्रधानमंत्री बनाये जाने की बात कही किन्तु वे देश के उत्थान के लिए समर्पित थे, कुर्सी के लिए नहीं, अतः उन्होंने विनम्रतापूर्वक नेहरूजी के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया ।

अपने शेष जीवन में वे राष्ट्रीय समस्याओं से जुड़ते रहे । चाहे नागालैण्ड की समस्या हो या तिब्बत की, बंगला देश की अथवा कश्मीर की, जयप्रकाश नारायण अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर उसे सुलझाने में लगे रहे । एक नहीं, चार सौ से अधिक डाकुओं को सामान्य जनजीवन में लाने वाले जयप्रकाश नारायण केन्द्र सरकार की नीतियों का मुकाबला करने को तत्पर हुए । 1947 में उन्हें फिर चण्डीगढ़ जेल में डाल दिया गया । यहां उन्हें फिर 1943 की तरह ज़ीरो डिग्री की यातनायें दी गयीं जिससे उनके गुदें खराब हो गये ।

जयप्रकाश नारायण को जेल में डालना तत्कालीन शासन को बहुत महंगा पड़ा । सरकार का पतन हुआ और एक नई पार्टी जनता पार्टी के नाम से शासन में आयी । सत्ता प्राप्ति पर इस पार्टी का भी वही हाल हुआ जिससे जयप्रकाश नारायण आजीवन लोहा लेते रहे । वे एक बार फिर कर्मक्षेत्र में आना चाहते थे किन्तु 8 अक्टूबर, 1980 को इतिहास बदलने वाले जयप्रकाश नारायण स्वयं इतिहास बन गये । समूचे देश ने अश्रुपूरित नेत्रों से अपने पथ-प्रदर्शक को अन्तिम विदाई दी ।

भारतीय जनता के आत्मविश्वास और साहस के प्रतीक जयप्रकाश नारायण, भारत की आत्मा बनकर सदैव अमर रहेंगे, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता ।

नगालैण्ड की लक्ष्मीबाई रानी गैड्यालू

बनवासी नागा महिला-रानी गैड्यालू महान क्रान्तिकारी महिला थी। हमारे स्वतन्त्रता संग्राम में महिलाओं में सबसे लम्बी कारागार की सज़ा भारत की इसी बहादुर बेटी ने काटी। रानी गैड्यालू ने जब १९३२ में अंग्रेजों के खिलाफ मुक्ति-युद्ध छेड़ा तब उनकी आयु केवल सत्तर वर्ष थी। उस समय से लेकर १९४७ तक जब तक तक देश आज़ाद न हुआ था वे कारागार में रहीं। पण्डित नेहरू के शब्दों में—“उस बहादुर लड़की ने देशभक्ति के भाव से एक विशाल साम्राज्य से सीधी टक्कर ली। मगर उसे जबरदस्त यातना और घुटन सहनी पड़ी। अंधेरे में कैद-छोटी सी कोठरी में अकेले बिल्कुल अकेले। “पण्डित नेहरू ने १९३७ में स्वयं गैड्यालू रानी से जेल में ही सम्पर्क किया और अंग्रेजों से उनकी रिहाई की अपील की। मगर ब्रितानिया सरकार उन्हें खतरनाक विद्रोही समझती थी। उनके समर्थक उन्हें बड़े प्यार और इज्जत से नगा-रानी कहकर पुकारते थे और उन्हें इतना पूज्य व पुण्यात्मा मानते थे कि उनके स्पर्श किये हुए जल की बोतल द्वारा रोगों से छुटकारा पाने का यत्न किया करते थे।

बहादुर बच्ची गैड्यालू का जन्म २६ जनवरी, १९१५ को नगालैण्ड के नगर लॉगकाओ में हुआ। बालिका गैड्यालू ने मिशन स्कूल में शिक्षा पाई। सन् १९३१ में उसके भाई जादोनांग ने अपने आपको नगा जाति का नेता घोषित कर दिया और अंग्रेजी राज्य से स्वतन्त्र होने का ऐलान कर दिया। एक अंग्रेज को जान से मार डालने के अपराध में उसे मृत्युदण्ड दिया गया। इस समय गैड्यालू केवल सत्रह वर्ष की थी। भाई की मृत्यु के बाद वह कबीले की मुखिया बनी और उसने भाई की जगह लड़ाई की कमान संभाल ली। गैड्यालू के पास उस वक्त चार हजार नगा लोगों की प्राइवेट आर्मी थी। असम रायफल से यह नगा लोग कई बार टकराये। गैड्यालू ने घोषणा की “या तो अंग्रेज ही रहेंगे या हम।”

१७ अक्टूबर, १९३२ को एक हमले में अंग्रेजी फौज ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उनकी कमर में एक मजबूत रस्सी बांधी गई मानो वे कोई फाड़-खाऊ जानवर हो। दूसरे दिन अंग्रेजों के सिपाहियों ने जमकर उनकी और उनके भाई की पिटाई की। उन दोनों को अनेक यातनायें दी गयीं और उनके साथ बहुत अमानुषिक बर्तान

किया गया। उन पर अंग्रेजों का राज्य खत्म करने का आरोप लगाया गया और उन्हें उनकी विद्रोहात्मक कार्यवाइयों के लिए आजीवन कारावास की सज़ा दे दी गयी।

सन् 1939 में पण्डित नेहरू ने ब्रिटिश महिला संसद सदस्या लेडी एस्टर से ब्रिटिश संसद में रानी गैड्यालू की रिहाई का मामला उठवाया लेकिन ब्रिटिश सरकार रानी की ताकत से इतना घबराती थी कि वह किसी भी हालत में उन्हें रिहा करने के हक में न थी। विदेशी हुकूमत ने उन्हें जंगली और अमानवीय लोगों की नेता माना किन्तु आज़ादी के लिए किये गये उनके प्रयासों से सिद्ध होता है कि उन बहादुर लोगों में भी उदात्त मानवीय गुण हैं।

सन् 1947 में जब देश आजाद हुआ तब वह जेल से रिहा हुई। उन्होंने अपनी रिहाई के बाद कुछ समय विश्राम किया और फिर अपने लोगों की सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को लेकर अपनी भावी योजनाओं पर कार्य करना शुरू कर दिया। 24 फरवरी, 1966 को नगाओं के विशेष दल की मुखिया के नाते रानी गैड्यालू दिल्ली आयीं। भारत की पच्चीसवीं स्वतन्त्रता वर्षगांठ पर लालकिले के दीवाने आम में सभी उपस्थित स्वतन्त्रता सेनानियों के साथ रानी गैड्यालू का भी सम्मान किया गया। रानी गैड्यालू ने श्रीमती इन्दिरा गांधी से भी मुलाकात की और शर्त रखी कि उनके कबीले के क्षेत्र को तीन राज्यों से निकालकर अलग जिला बना दिया जाये जिससे वहां के पिछड़े क्षेत्रों का विकास हो सके।

जन्मजात विद्रोहिणी रानी गैड्यालू अपनी इस मांग को लेकर 1960 में भूमिगत हो गयीं और भारत सरकार के आश्वासनों के बाद ही 1966 में उन्होंने शस्त्र छोड़े। रानी गैड्यालू विदेशी प्रभाव में कार्य करने वाले नगाओं से लोहा लेने और देश की सीमाओं पर शान्ति बनाये रखने के लिए कटिबद्ध हैं।

सर्वस्व बलिदानी तारा रानी श्रीवास्तव

अगस्त, 1942 के दौरान कांग्रेस द्वारा 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास हुआ जिसमें "करो या मरो" का नारा दिया गया। इस नारे ने सारे देश में जनविद्रोह की आग भड़का दी। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के पास होने के ठीक दूसरे दिन अर्थात् 9 अगस्त, 1942 को सूर्योदय से पूर्व ही ब्रिटिश सरकार ने गांधीजी व अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर सत्याग्रह की सभी सम्भावनाओं को समाप्त कर दिया।

इस गिरफ्तारी के विरोध में सारे देश में जनक्रोध भड़क उठा। संयम का बांध-तोड़ लोग "करो-या-मरो" के लिए तैयार हो उठे। क्रान्तिकारी तत्वों ने आन्दोलन अपने हाथों में ले लिया। लाठियों और गोलियों की मट्ट से ब्रितानिया सरकार ने आन्दोलन को दबाना चाहा परन्तु वह इसमें सफल न हो सकी। ब्रिटिश सेना के नृशंस दमन से सारा देश त्रस्त हुआ।

आन्दोलन की लहर बम्बई से आरम्भ होकर शीघ्र ही मद्रास, उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल तक जा पहुँची। आसाम, आन्ध्र, कर्नाटक और उड़ीसा भी इससे अछूते न रह सके। 11 अगस्त तक ऐसी विस्फोटक स्थिति पैदा हो गयी कि समूचा देश अंग्रेजी शासन के विरुद्ध युद्ध पर आमादा हो गया।

1942 के इस उग्र आन्दोलन में विभिन्न क्षेत्रों में जिन महिलाओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया उनमें तारारानी श्रीवास्तव अग्रणी थी।

राष्ट्रीयता के संस्कार उन्हें विरासत में मिले थे। जब यह डेढ़ वर्ष की ही थी तब एक अंग्रेज गुप्तचर ने उनके पिता का मित्र बनकर उन्हें ज़हर पिलाकर मार डाला था। बाबा की देखरेख में बच्ची तारा रानी का पालन-पोषण हुआ। देशभक्त बाबा ने तारा रानी को छोटी उम्र से ही साहित्य और राष्ट्रीयता की शिक्षा दी। उन दिनों की परम्परा के अनुसार अल्पायु में ही तारा रानी का विवाह प्रसिद्ध राजनैतिक कार्यकर्ता फुलेना प्रसाद श्रीवास्तव से सम्पन्न हुआ।

क्रान्तिकारियों की श्रेणी में फुलेना बाबू सदैव अग्रणी रहे। वे राष्ट्र की बलिबंदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने का व्रत ले चुके थे। वे बुद्धिमान, स्पष्टवादी और साहसी थे। विवाहोपरान्त तारा रानी और फुलेना बाबू दोनों ही राजनैतिक क्षेत्र में एक साथ उतरे। उनकी घर-गृहस्थी देश के काम में आड़ नहीं आई। जीवन के सुख-आराम, इज्ज़त और प्राणों का सौदा कर दोनों सत्याग्रह के मार्ग पर चले। फुलेना

बाबू के तेजस्वी स्वभाव के कारण विहार की क्रान्ति अहिंसात्मक न रह पायी। उन भयानक स्थितियों में तारा रानी हर कदम पर अपने पति के साथ रहीं। जलसे और जुलूसों में वे बराबर अंग्रेज सरकार से टक्कर लेती रहीं और महिलाओं का संगठन करती रहीं। इससे पूर्व सन् 1941 में व्यक्तिगत सत्याग्रह कर स्वयं भी जेल गई थीं। जून, 1942 में जब वे जेल से छूटकर आईं तो मां व बाबा अस्वस्थ थे किन्तु परिजनों की सेवा-सुश्रूषा छोड़ वे 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में जुट गयीं। 16 अगस्त, 1942 को तारा रानी एक जुलूस में अपने पति, बाबा व मां के साथ "इन्कलाब जिन्दाबाद" के नारे लगाती हुई आगे बढ़ रही थीं, तभी जुलूस पर भीषण लाठी प्रहार हुआ। गोलियां चली। बाबा घायल हुए, मां जखमी हुई। सेवान थाने पर झंडा फहराने स्वयं फुलेना बाबू आगे बढ़े। अपार जनसमूह इसी ओर बढ़ रहा था। आन्दोलनकारियों को गोलियों का निशाना बनाया गया। चारों ओर एक जैसी दीवानगी नजर आ रही थी। आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। हजारां की भीड़ "करो या मरो" के नारे लगाती हुई सरकारी भवनों की ओर बढ़ रही थी—तारा रानी व फुलेना बाबू के नेतृत्व में। तभी एक गोली तारा रानी के दाहिने हाथ में लगी। फुलेना बाबू पहले ही गोलियों से घायल हो चुके थे। जब तारा रानी ने देखा कि उनके पति पुलिस की नौ गोलियां खाकर घायल हो गिर पड़े हैं तो वीरांगना तारा रानी ने अपनी धोती का एक टुकड़ा फाड़कर पति के मस्तिष्क पर बांधा और तिरंगा झण्डा लेकर सेवान थाने के ऊपर चढ़ गयीं। तारा रानी के अपूर्व साहस और मृत्यु को वरण करने की क्षमता के फलस्वरूप सेवान थाने पर राष्ट्रीय तिरंगा लहराने लगा। किन्तु झण्डा फहराकर जब वह लौटीं तो उन्होंने अपनी मां, बाबा और पति को मृत पाया। घायल तारा रानी को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया तथा स्वराज्य की घोषणा के बाद ही वह रिहा हो सकीं।

1942 के क्रान्तिकारी आन्दोलन में तारा रानी के पति फुलेना बाबू की शहादत हमारे इतिहास का स्वर्णिम अध्याय है। अपने पति के संयम, साहस व त्याग के विषय में स्वयं तारा रानी लिखती हैं—“मैंने अपने पति को कभी मृत नहीं माना। उनकी निरन्तर उपस्थिति अनुभव करती रही और उनकी याद लिये सेवा का व्रत निभाती रही। दूसरी बार जेल में एक वर्ष तक मुझे एकान्त कोठरी में रखकर भिन्न-भिन्न प्रकार की यातनायें दी गयीं, पति की याद व प्रेरणा के सहारे ही वह सब झेल पाई।”

देश आज़ाद हुआ लेकिन तारा रानी देश के प्रति पूर्णतः समर्पित ही रहीं। राजनैतिक क्षेत्र में जुटी रहीं। उन्होंने समाजवादी पार्टी में अठारह वर्ष तक कार्य किया। रक्तचाप की शिकायत के बावजूद भी वे सभाओं में जातीं, भाषण देतीं व जनमानस को जाग्रत करने में कोई कसर न छोड़ी। निस्वार्थ भाव से जनकल्याण, जनजागरण में जुटी इस वीरांगना ने कभी स्वतन्त्र देश की सरकार से व्यक्तिगत सुख के लिए कुछ नहीं चाहा। स्वयं स्वतंत्रता सेनानी ताम्रपत्र व पेंशन के लिए कभी कोई आवेदनपत्र तक भी नहीं दिया।

स्वनामधन्य नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

“धन-दौलत कमा लेने या ऊंची शिक्षा प्राप्त करने मात्र से देश नहीं बनते—देश बनते हैं—वीरों के शौर्य से, वीरांगनाओं के जौहर से और शहीदों के रक्त से।” ये शब्द हैं महान जननायक सुभाषचन्द्र बोस के।

उनकी आवाज में कुछ ऐसा जादू था कि उसे सुनकर मुँदें भी जी उठते थे तथा जानदार व्यक्तियों का पौरुष प्रचण्ड ज्वाला बनकर फूट पड़ता था।

प्रकृति ने सुभाष के हाथ में सफलता का स्वर्णसूत्र थमा दिया था। वे जीवन को विधायक आरोहण देते थे निरोधात्मक पलायन नहीं। उन्होंने गुलामी के अन्धकार को मिटाने के लिए सभायें नहीं कीं, प्रार्थनायें नहीं कीं। उन्होंने अपने सर्वस्व को जलाकर मातृमन्दिर में आजादी का प्रकाश भर दिया।

सुभाष नीचे से ऊपर तक देश की मिट्टी से बने थे। यही कारण था कि वे आम जनता के साथ और सहज भावनाओं के प्रति भावनात्मक रूप से संवेदनशील थे। उनमें आत्मगौरव का एक ज्योति-स्तम्भ था जो उन्हें उत्तरोत्तर विकास की ओर ले जाता रहा। इतिहास साक्षी है कि उनकी नियति-भावना कभी मन्द नहीं पड़ी। और इस देश को जो गौरव प्राप्त है उसमें उनका अद्वितीय योगदान है।

सुभाष बाबू का जन्म 23 जनवरी, 1897 को बंगाल के एक सम्पन्न कायस्थ परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री जानकीनाथ बोस पब्लिक प्रॉसीक्यूटर होने के साथ-साथ बंगाल विधानसभा के सदस्य भी थे। जानकीनाथ जी में देशभक्ति और राष्ट्रीयता कूट-कूटकर भरी हुई थी तथा वे देश के लिए मृत्यु को अंगीकार करने वाले क्रान्तिकारियों का हृदय से आदर करते थे।

सुभाष की माता एक दृढ़निश्चयी और साहसी महिला थी। वे अपने लम्बे-चौड़े परिवार को सुनियोजित ढंग से चलाने में पूर्णतया दक्ष थीं। अपनी माता से ही सुभाष व अन्य भाई-बहनों ने स्वाभिमान के लिए मर-मिटने और साहसिक कार्यों में आगे रहने की शिक्षा पाई थी।

जब सुभाष पांच वर्ष के थे तब उन्हें वहीं के एक मिशन स्कूल में शिक्षा-प्राप्ति के लिए प्रविष्ट कर दिया गया किन्तु बंगाला के प्रेम के कारण उनके पिता ने कुछ वर्ष बाद उन्हें एक भारतीय स्कूल में भेजना प्रारम्भ कर दिया। दचपन में सुभाष को वागवानी और सैर का बहुत शौक था। वैसे स्वभाव से वे अन्तर्मुखी, गम्भीर

व एकान्तप्रिय थे। पुरी के साधुओं की ओर उनका विशेष लगाव था और दया तथा करुणा उन्हें दीनहीनों के लिए सब कुछ छोड़ देने का व्यग्र करती रहती थी।

पन्द्रह वर्ष की आयु में सुभाष का ध्यान स्वामी विवेकानन्द के भाषणों की ओर गया। इन भाषणों में दरिद्रनारायण और मातृभूमि के लिए एक जवर्दस्त आन्दोलन की आवश्यकता पर बल दिया गया था। स्वामीजी को अपना मार्ग-दर्शक मानकर सुभाष ने मन ही मन उनके शब्दों को सार्थक करने का निश्चय कर लिया।

विवेकानन्द जी के मार्मिक उद्गारों ने सुभाष के हृदय पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि 1914 में वे घर छोड़कर एक ऐसे गुरु की खोज में निकल पड़े जो स्वामीजी के विचारों पर चलता हुआ उनका मार्ग प्रशस्त कर सके किन्तु एक लम्बी खोज के बाद भी सुभाष को अपने आदर्शों के अनुरूप गुरु न मिल सका और वे घर लौट आये। इस यात्रा में उन्हें किसी गुरु का आलम्बन तो प्राप्त न हो सका किन्तु उनके इस निश्चय को बहुत बल मिला कि वे एक विशिष्ट काल में एक विशिष्ट प्रयोजन के लिए ही जन्मे हैं।

इन्हीं दिनों सुभाष के जीवन में एक ऐसा अवसर आया जिसने उनकी जीवनधारा को एक और मोड़ दिया। कॉलिज के एक अंग्रेज अध्यापक को पूरे वेग से थपड़ लगा देने के अपराध में उन्हें कॉलिज से निष्कासित कर दिया गया। यद्यपि सुभाष अपने अध्यापकों के प्रति बड़े विनम्र थे। किन्तु फिर भी उनके देश और देशवासियों के स्वाभिमान पर कोई वार करता रहे और वे सहते रहें, यह बहादुर सुभाष को गवारा न था। भारतीय तरुणों के नेता के रूप में सुभाष की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। इन्हीं दिनों अपने एक मित्र को पत्र लिखते हुए सुभाष ने लिखा—“भारत एक नये दौर से गुजर रहा है। हमारा सौभाग्य है कि हम ऐसे अवसर पर इस देश की मर्यादा का भार वहन करने के लिए चुने गये हैं। निराशा को त्यागकर हमें पूर्ण पौरुष का वरण करना है।”

कॉलिज के पाठ्यक्रम द्वारा निर्धारित पढ़ाई में उनकी गति कुछ मन्द रही किन्तु देश को आगे ले जाने वाले आयोजनों में उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिला। जुलाई, 1917 में उन्हें पुनः दाखिला मिल गया और वे प्रथम श्रेणी में प्रथम रहकर बी० ए० पास हो गये।

पिता के प्रेम और आग्रह ने सुभाष को मजबूर कर दिया कि वे आई. सी. एस. की परीक्षा में बैठें। पिता ने कहा यदि वे अंग्रेजी सरकार की नौकरी न करना चाहे तो उस पर उसके पश्चात् विचार कर लिया जायेगा। सुभाष को इसमें अपनी मेधा शक्ति और बुद्धि बल से विदेशी प्रत्याशियों को परास्त कर ससम्मान परीक्षा उत्तीर्ण करने का अवसर भी नज़र आया और वे इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गये।

कैम्ब्रिज में उन्होंने एक नई अनुभूति का आभास पाया। उन्हें लगा जैसे उनके देश की विशिष्टता उन्हें ललकारकर एक ऐसा आदर्श उपस्थित करने को कह रही

थी जिसे देखकर इंग्लैण्ड के निवासी लज्जा से गर्दन झुका लें। इसी विशिष्टता को लक्षित करने के इरादे से सुभाष ने एक संयमित और सार्थक जीवन का प्रमाण प्रस्तुत किया जिसे देखकर अन्य भारतीय विद्यार्थी उन्हें अपना नेता मानने लग गये।

1920 में सुभाष ने आई० सी० एस० की परीक्षा इतने अंकों से पास की कि लोगों को उनकी विलक्षण प्रतिभा पर आश्चर्य होने लगा। अंग्रेजी में तो वे सभी भारतीय व विदेशी छात्रों में प्रथम रहे। उन्हीं दिनों देश में जलियांवाला काण्ड हुआ और सुभाष की भुजायें प्रतिरोध के लिए फड़कने लगीं। उन्होंने आई० सी० एस० से त्यागपत्र देने का निश्चय कर लिया और कहा—“या तो मेरा आदर्श निभ सकता है या यह नौकरी।” उस समय तक किसी भारतीय ने आई० सी० एस० से त्यागपत्र नहीं दिया था।

अप्रैल, 1921 में उन्होंने आई० सी० एस० से त्यागपत्र दे दिया। भारत सरकार के गृह सचिव ने उन्हें बुलाकर समझाया किन्तु सुभाष ने कहा—“मैं समझता हूँ कि मैं अपने प्यारे देश का वफादार तभी रह सकता हूँ जब मैं अंग्रेज सरकार की वफादारी में न रहूँ।” पिता के समझाने पर सुभाष ने लिखा—“यदि हम अपने आपको अथवा अपने परिवार को आगे रखकर अपना लक्ष्य निश्चित करना चाहेंगे तो हमारा लक्ष्य कभी महान नहीं हो पायेगा।”

सुभाष को दृढ़मत देखकर पिता ने सहमति दे दी। त्यागपत्र देने पर पिता और पुत्र में जो वार्ता हुई वह इस प्रकार थी—

“जब-तुम देशसेवा का संकल्प ले ही चुके हो तो मेरा परमात्मा से निवेदन है कि वह तुम्हें पूर्ण सफलता प्रदान करे।”

“पिताजी! आज मुझे आपके प्रति जिस श्रद्धा की प्रतीति हो रही है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। पिताजी आप महान हैं।”

जुलाई, 1921 में सुभाष भारत आये। भारत में कांग्रेस की पतवार उन दिनों गांधीजी के हाथों में थी। अतः सुभाष ने अपनी सम्पूर्ण सेवायें गांधीजी को अर्पित की और भारत की स्वाधीनता के मसूवे पूरे करने में जुट गये। कुछ समय पश्चात् सुभाष ने पाया कि गांधीजी का जो मोह है उससे भारत की स्वाधीनता में व्यवधान भी आ सकता है। सुभाष ने गांधीजी से दीर्घ विचार-विमर्श किया किन्तु वे आश्वस्त न हो सके कि गांधीजी के रास्ते से स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है और वे देशबन्धु चित्तरंजनदास के गर्म दल में शामिल होने कलकत्ता चले गये।

1922 में देशबन्धु चित्तरंजनदास कांग्रेस के राष्ट्रपति चुने गये। सुभाष उनके सेक्रेटरी थे। देशबन्धु ने कहा कि असेम्बली में प्रवेश द्वारा सरकार को भीतर जाकर भंग करना कहीं अधिक सुगम होगा। गांधीजी असेम्बली प्रवेश के विरोधी थे। देशबन्धु ने देखा कि यद्यपि गांधीजी को बहुमत प्राप्त है किन्तु फिर भी उनसे सहमत होकर चलना उनके लिए आत्मा का हनन होगा, अतः उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र

दे दिया और स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। बंगाल और सैन्ट्रल प्रॉविन्स के अतिरिक्त केन्द्रीय विधानसभा में भी स्वराज्य पार्टी को दो विशिष्ट स्थान प्राप्त हुए।

1924 में कलकत्ता कारपोरेशन में भी स्वराज्य पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ और श्री चितरंजनदास उसके मेयर बनाये गये। सुभाष उनके साथ ही मुख्य कार्यकारी अधिकारी मनोनीत हुए। लार्ड कर्जन ने इसका विरोध किया किन्तु उनकी चल न सकी।

तभी बंगाल के जन-जीवन में एक ज्वार आया। गोपीनाथ साहा की शहीदी से क्रान्ति की लहर दौड़ गयी।

सुभाष के खून में भी उबाल आया और उन्होंने क्रान्तिकारियों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। अक्टूबर, 1924 में उन्हें भयानक क्रान्तिकारी की संज्ञा देकर कैद कर लिया गया।

ब्रिटिश सरकार सुभाष पर कोई आरोप न लगा सकी किन्तु उन्हें अलीपुर जेल में रखकर उसने क्रान्ति को दवाने की कोशिश शुरू कर दी।

सरकार ने भारतीय जनता द्वारा उठाये गए उनकी रिहाई के प्रश्न पर घोषणा की—“यदि सुभाष भारत न आकर स्विट्ज़रलैंड जाने के लिए राजी हों तो उन्हें छोड़ा जा सकता है।”

सुभाष ने सरकार की शर्त को ठुकराते हुए लिख भेजा—

“मैं दुकानदार नहीं हूँ और न ही देश की आजादी के प्रश्न पर मोल-भाव का हामी हूँ। मैं अपने स्वास्थ्य की चिन्ता नहीं करता। देश के स्वाभिमान पर सैकड़ों सुभाष बलिदान किये जा सकते हैं।”

अन्त में कोई चारा न देख 1927 में सुभाष को रिहा कर दिया गया। वे अविलम्ब जन-क्रान्ति उद्देलित करने में जुट गये। उन्होंने भारत आते ही आम हड़ताल और काम रोकने की ऐतिहासिक घोषणा की। वे चाहते थे कि सभी नौजवान जेल जायें जिससे पूरे युवा वर्ग में आजादी की प्रबल भावना का संचार हो और विदेशी सत्ता को इतनी बड़ी ज्वाला को मुड़ी में रखना दुश्वार हो जाये।

सुभाष पूँजीवाद के विरुद्ध भी लगे हाथ युद्ध कर रहे थे। वे ‘डोमीनियन स्टेट्स’ को रद्द कर चुके थे और उनका दृढ़ मत था कि यदि पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त न हुई तो भारत को देशी और विदेशी पूँजीवाद के भीषण दबाव को व्यर्थ ही सहन करना पड़ेगा। वे भारत के प्रथम व्यावहारिक समाजवादी नेता थे।

नवम्बर, 1927 में ही सुभाष को प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष चुना गया तथा इसी महीने एक ब्रिटिश पार्लियामेंटरी कमीशन की नियुक्ति भी की गयी। सुभाष इस परीक्षा-वेला में उत्तरदायित्व की ओर बढ़ रहे थे।

फरवरी, 1927 में साइमन कमीशन भारत आया। पूरे देश में जमकर हड़ताल हुई। बंगाल में मोर्चा तगड़ा रहा और इस सबका श्रेय सुभाष को गया। मार्च, 1928 में दिल्ली में सर्वदलीय सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में निश्चय किया गया कि धारा

सभाओं में हिन्दू-मुस्लिम सिख प्रतिनिधित्व को लेकर एक विधान व एक रिपोर्ट तैयार की जाये। सुभाष को इस समिति का सदस्य निर्वाचित किया गया। बहुमत 'डोमोनियन स्टेट्स' के पक्ष में था जबकि एक जबरदस्त अल्पमत पूर्ण स्वाधीनता के अतिरिक्त कुछ न चाहता था। सुभाष ने साइमन कमीशन से निपटने के पहले इस विवाद में पड़ना उचित न समझा और उस समय के लिए बहुमत का ही साथ देना स्वीकार कर लिया। उन्होंने सोचा कि बाद में वे स्वाधीनता संघ बनाकर अपने विचारों का प्रसार करेंगे और लोकमत को अपने पक्ष में करने का प्रयास करेंगे।

21 अप्रैल, 1930 को सुभाष नमक कानून तोड़ने के अपराध में गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें अलीपुर जेल में रखा गया जहां उनका बन्दी क्रान्तिकारियों से निकट का सम्पर्क रहा। जेल से छूटने पर वे एक जुलूस का नेतृत्व करने के कारण 1931 की 26 जनवरी को गिरफ्तार कर लिये गये। एक वर्ष बाद जब वे जेल से छूटे तो 1933 में बम्बई से लौटते समय मार्ग में ही बन्दी बना लिये गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि वे अपने भारतीय राजनैतिक जीवन में सोलह बार जेल गये और परिणामस्वरूप अपने स्वास्थ्य को बिगड़ने से न बचा पाये। वे अपने स्वास्थ्य-सुधार के लिए दो वर्ष यूरोप में रहे जहां उन्होंने विदेशी स्वाधीनता सेनानियों से सम्पर्क कर भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में प्रचुर प्रचार किया।

1938 में हरिपुरा कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। सुभाष बाबू ने हरिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। वे उस समय इकतालीस वर्ष के थे। चूंकि सुभाष बाबू का अध्यक्ष होना गांधीजी की इच्छा के विरुद्ध था अतः उन्होंने कांग्रेस से त्यागपत्र देने की घोषणा की। सुभाष बाबू ने इस स्थिति को उचित न समझा और स्वयं कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया।

स्मरणीय है कि हरिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष पद से उन्होंने कहा था—“वैज्ञानिक विधि से उत्पादन तथा वितरण से सम्बन्धित हमारी भावी सरकार को सर्वप्रथम योजना आयोग का गठन करना होगा जो निर्माणकारी कार्यों की रूपरेखा तैयार करेगा। योजना आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्य हमारी सभी उत्पादन व उद्योगमूलक तथा कृषि के समाजीकरण का व्यापक कार्य करेगा।” इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में योजनाबद्ध प्रगति के जन्मदाता सुभाषचन्द्र बोस ही थे।

1939 में द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ। सुभाष बाबू चाहते थे कि अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अन्दरूनी लड़ाई भी छेड़ दी जाये पर गांधीजी ने युद्ध के दिनों में सत्याग्रह संग्राम आरम्भ करने से साफ इन्कार कर दिया। सुभाष बाबू ने उसी समय समझौता विरोधी सम्मेलन किया जिसमें अनेक कर्मठ कार्यकर्ता और स्वतन्त्रताप्रेमी सम्मिलित हुए। उन्हीं दिनों उन्होंने हालवेल में स्मारक के विरुद्ध सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया। सत्याग्रह आरम्भ होते ही उन्हें भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत बन्दी बना लिया गया। कारागार में जाकर उन्होंने आमरण अनशन की घोषणा कर दी। अन्त में अंग्रेज सरकार ने

घबराकर उन्हें जेल से निकालकर उनके घर में ही नजरबन्द कर चारों तरफ पहरा बिठा दिया। एक दिन वे पहरेदारों की आंखों में धूल झांककर अपने घर से निकल गये और पेशावर होते हुए काबुल जा पहुंचे। वे काबुल से रूस जाना चाहते थे पर किन्हीं कारणों से ऐसा न कर सके और वे रूस न जाकर जर्मनी चले गये।

कुछ दिनों तक जर्मनी में रहने के पश्चात् सुभाष बाबू जापान चले गये। वे 1943 के जून में पनडुब्बी से जर्मनी से पनांग पहुंचे और फिर हवाई जहाज से टोकियो गए जहां उन्होंने जापानी प्रधानमंत्री तो-जो से मिलकर यह सुनिश्चित करवाया कि जब भारत आजाद होगा तो उसका पूर्ण स्वाधीन स्वरूप जापान को मान्य होगा। उन्होंने जापान में रहते हुए सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी रासबिहारी की सहायता से आजाद हिन्द फौज की स्थापना भी की। सिंगापुर इस फौज का मुख्य कार्यालय था। सुभाष बाबू स्वयं फौज के सेनापति थे और जयहिन्द आजाद हिन्द फौज का नारा था।

जापान ने अण्डमान और निकोबार द्वीप नेताजी के सुपुर्द कर दिया। नेताजी ने इन द्वीपों का नाम शहीद द्वीप और स्वराज्य द्वीप रख दिया।

सिंगापुर से इम्फाल का मोर्चा 2995 मील का है। नेताजी ने इतने लम्बे मोर्चे पर जमकर ब्रिटेन और अमेरिका के खिलाफ लड़ाई लड़ी। इस बमासान लड़ाई से मणिपुर प्रान्त का दो तिहाई भाग तथा समूचा नागालैण्ड आजाद हो गये। इस लड़ाई का प्रभाव ब्रिटिश भारतीय सेना के लोगों, नाविकों और वायुसेना पर भी पड़ा और उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ बगावत प्रारम्भ कर दी। नौ सेना के सैकड़ों लोग हताहत हुए और हजारों घायल हुए। अंग्रेजों ने इसके बाद भारत छोड़ने का निश्चय कर लिया।

सरदार पटेल ने आई. एन. ए. रिलीफ फण्ड इन्क्वायरी कमेटी की मीटिंग में ठीक ही कहा था—

“जिस काम को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस साठ वर्षों में भी नहीं कर पाई उसे नेताजी और आजाद हिन्द फौज ने तीन महीने की लड़ाई में ही कर दिखाया। उनकी लड़ाई के फलस्वरूप ही ब्रिटिश भारतीय सेना में देशभक्ति की भावना जागी और इसीलिए अंग्रेजों ने भारत छोड़ने का निश्चय किया।”

संसार के इतिहास में अभी तक कोई ऐसा क्रान्तिकारी नेता या जनरल पैदा नहीं हुआ जिसने अपने देश से बाहर जाकर इतनी बड़ी फौज का संगठन कर ऐसी अदभुत लड़ाई लड़ी हो।

शहीद वीरांगनायें व कुमारी कनकलता देवी

अगस्त, 1942 में समूचे भारत में क्रान्ति की लपटें उठ रही थीं। यह क्रान्ति आकर और प्रकार में पुरानी सभी क्रान्तियों से भिन्न थी। सारे देश में लगभग चार करोड़ भारतीयों ने खुलकर इस क्रान्ति में भाग लिया तथा गोलियों की वर्षा के बीच हर प्रान्त के स्त्री-पुरुषों ने भारत-माता की जय का उद्घोष किया। इस महान क्रान्ति में भारतीय वीरांगनाओं ने अपूर्व धैर्य, साहस और वलिदान का परिचय दिया। भारतीय महिलायें स्वाधीनता-संग्राम में पुरुषों से आगे ही रहीं। क्रान्तिकारिता के इतिहास में भी स्त्री वर्ग का योगदान अद्वितीय रहा।

क्रान्तिकारियों का समस्त गुप्तचर कार्य लगभग स्त्रियां ही करती थीं। उन्हें खुलकर सामने न लाने का एक कारण शायद यह था कि क्रान्तिकारी लोग स्त्रियों के साथ होने वाले अत्याचार से डरते थे। फिर भी 24 दिसम्बर, 1931 को दो छात्राओं कुमारी शान्ति और कुमारी सुनीता ने जिला अध्वक्ष मि. स्टीवेन्सन को उनके अत्याचारों के कारण गोली से उड़ा दिया। 6 अप्रैल, 1932 को कुमारी बीना दास ने बंगाल के गवर्नर स्टेनले जैक्सन को गोली का निशाना बनाया। कुमारी प्रीतिलता बम तथा गोलियां चलाकर शहीद हुईं और कुमारी कल्पना दत्त भी लम्बे समय तक गोलियों का जवाब गोलियों से देती रही।

श्रीमती दुर्गा बोहरा ने भगतसिंह की फांसी के जवाब में अंग्रेजों पर लेमिंगटन रोड, बम्बई में गोलियां चलाई। देश के लिए जेल की यात्रा करने वाली क्रान्तिकारी महिलाओं में प्रमुख थीं श्रीमती लीला नाग, श्रीमती रेणुका सेन, श्रीमती कल्याणी देवी, श्रीमती इन्दु सिंह, श्रीमती प्रकाशवती तथा सुशीला दीदी आदि।

वीरांगनाओं की इसी परम्परा में एक अविस्मरणीय नाम है कुमारी कनकलता का। कुमारी कनकलता का जन्म 26 मई, 1926 को असम के एक सम्पन्न कायस्थ परिवार में हुआ था। बालिका कनकलता की बुद्धि और प्रतिभा असाधारण थी, किन्तु उसका दुर्भाग्य था कि जब वह पांच वर्ष की हुई तो माता और आठ वर्ष की हुई तो उसके पिता का देहान्त हो गया। छोटे-छोटे भाई-बहनों की देखभाल का भार उस अल्पायु बालिका पर पड़ना अनिवार्य हो गया। वह अभी दसवीं कक्षा की छात्रा थी पर उसे असम के हवाई अड्डों व अन्य फौजी कार्यों के लिए जनता की जमीन जब्त किये जाने की जानकारी मिली। असम के अमर शहीद तिलक डेका की मौत भी

उसे निरन्तर परेशान कर रही थी। कनकलता ने तुलेश्वरी देवी व अन्य नौजवान लड़कियों के साथ उस मौत का बदला लेने का निश्चय किया। असम के इस आन्दोलन में युवा वर्ग इन छात्राओं का अनुगामी था। नेतृत्व था युवतियों के हाथों में।

इन अल्पायु किन्तु महान बालिकाओं ने निश्चय किया कि 21 फरवरी, 1942 को जेल में बन्दियों पर हुए लाठीचार्ज का विरोध किया जाये और गोहपुर थाने पर भारत की आजादी का प्रतीक राष्ट्रीय तिरंगा फहराया जाये। 30 सितम्बर, 1942 के जुलूस का नेतृत्व कुमारी कनकलता को सौंपा गया जो उस समय मात्र सोलह साल की थी। वह तिरंगा लिये सबसे आगे चल रही थी और “अंग्रेजों भारत छोड़ो!” का नारा लगा रही थी। जुलूस के थाने पहुंचने से पहले ही पुलिस ने उसे रोक दिया। कनकलता ने गरजकर कहा, “हम करो या मरो” का संकल्प लेकर आये हैं, हम थाने पर अपने देश का ध्वज फहराने के लिए अपने प्राणों की आहुति तक दे सकते हैं।” पुलिस ने बन्दूक तानकर उसे डराया किन्तु वह वीर बाला जुलूस के साथ आगे बढ़ती गयी। साथ चलने वाले युवकों और युवतियों का समूह “वन्देमातरम” का जयनाद कर रहा था। पुलिस द्वारा अचानक चलाई गयी गोली कनकलता को लगी, वह खून से लथपथ होकर धरती पर गिर पड़ी। गिरने के पूर्व उसने चिल्लाकर कहा, “भाइयो, आगे बढ़ो और इस झण्डे की रक्षा करो।”

मुकुन्द नाम के एक युवक ने कनकलता के हाथ से तिरंगा ले लिया, तभी उसे भी गोली लगी और वह भी वीरगति को प्राप्त हो गया।

उन दोनों के बलिदान ने उस जुलूस में न जाने क्या आग फूंक दी कि वह पुलिस के रोकने पर भी न रुका। पुलिस उनके साहस और निश्चय को देख वहां से खिसक गयी और थाने पर तिरंगा लहराने लगा।

दृढ़प्रतिज्ञ देव सुमन

ऊंचे आदर्शों से प्रेरित होकर उनके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देना कुछ बिरले लोगों का ही काम होता है। उन्हें अपनी चिन्ता नहीं होती, अपने चारों ओर के वातावरण को परिष्कृत करने की व्यग्रता होती है। उन्हें अन्याय और अत्याचार से उतनी ही जबरदस्त नफरत होती है जितना उन्हें शोषित और पीड़ितों से प्रेम। ऐसी ही महान विभूतियों में एक थे प्रातःस्मरणीय श्री देव सुमन।

श्री देव सुमन का जन्म 15 मई, 1915 को टिहरी गढ़वाल के जैल ग्राम में पं० हरिराम शर्मा के घर हुआ था। पं० हरिराम व्यवसाय से वैद्य थे किन्तु अपने कार्य को व्यवसाय न मानकर मनुष्य-मात्र की सेवा का साधन मानते थे। अभी सुमन केवल तीन वर्ष के ही थे कि उनके गांव में जबरदस्त हैजा फैला। उनके पिता पागलों की तरह बिना कुछ खाये-पिये रोगियों की सेवा-सुश्रुषा में जुट गये। लोगों ने बहुत मना किया और कहा कि पण्डितजी आप घर बैठिए, कहीं आपको कुछ हो गया तो परिवार का क्या होगा? किन्तु पण्डितजी तो किसी और ही धातु के बने थे। उन्हें दीन-दुखियों की सेवा से कौन विलग कर सकता था? वे अपने कार्य में इतने तल्लीन थे कि एक दिन हैजे ने उन्हें भी आ दबोचा और कुछ ही दिन बाद वे भी कालकवलित हो गये।

देव सुमन की पूजा मां श्रीमती तारादेवी भी अपने पति की तरह समाज और देश के प्रति समर्पित थीं। वे अपने पुत्र को उसके पिता की राह पर चलने की शिक्षा देती रहीं और एक दिन आया जब उनका लाड़ला हजारों लोगों का पथ-प्रदर्शक बन देशसेवा का अलख जगाने लगा। एक आदर्श पिता की आदर्श सन्तान बनने में उसे देर न लगी।

देश को आजाद कराने सम्बन्धी सभी आन्दोलनों में बेटा आगे होता और मां उसके पीछे। अपनी एकमात्र सन्तान को बलिदान के मार्ग पर अग्रसर करना एक सौभाग्यशाली मां का ही काम होता है। ऐसी मां के दर्शन कर लोग कह उठते हैं :-

जननी जने तो भक्तजन के दाता के सूर।
नाहि तो जननी दांडा रह, काहे गंवावे नूर।।

सुमन बाल्यकाल में भी अपने सभी बाल सहयोगियों के नेता थे। वे स्वयं कमाण्डर बनकर अपने साथियों को फौजी शिक्षा देते थे। उन्हें युद्ध करना, समरनीति बनाना और कठिनाइयों से जूझना बहुत भाता था। पिता की मृत्यु के कारण उनकी नियमित पढ़ाई की व्यवस्था न हो सकी पर तेजस्वी और प्रखर बुद्धि सुमन को पंजाब की 'प्रभाकर' और प्रयाग की 'साहित्यरत्न' परीक्षा पास करने में विशेष समय न लगा।

अभी सुमन केवल पन्द्रह वर्ष के ही थे कि उन्हें नमक सत्याग्रह के अपराध में चौदह दिन की सजा हुई। जेल में उनके कोमल बाल शरीर पर रोज इक्कीस बेटों की मार पड़ती थी। सुमन के शरीर पर जितने निशान पड़ते उससे कहीं ज्यादा निशान उनके दिल और दिमाग पर पड़ते थे। अंग्रेजों को भारत से खदेड़ने का उनका निश्चय और भी पक्का होता जा रहा था।

जेल से छूटने के पश्चात् सुमन लाहौर गये और वहाँ के ओरियण्टल कॉलेज के छात्र बन गये। कॉलेज के विद्यार्थियों में देशप्रेम की ज्वाला जगाना और उन्हें भावी आन्दोलनों की ओर उन्मुख करना ही उनकी दिनचर्या बन गयी थी। वे वहाँ इतने प्रसिद्ध हो गये कि अंग्रेज हुकूमत उनसे भय मानने लगी। उन्होंने 1931 में लाहौर में जो हड़ताल करवाई उसके फलस्वरूप उन्हें कॉलेज से निष्कासित कर दिया गया।

श्री सुमन इस समय तक इतने अच्छे संगठनकर्ता हो चुके थे कि उन्हें कानपुर, लखनऊ और दिल्ली से आन्दोलन का नेतृत्व करने के निमन्त्रण मिलने लगे। उन्होंने निश्चय किया कि वे सभी बड़े शहरों में घूमकर वहाँ की जनता को देशी रियासतों में दोहरे जुल्म का मुकाबला करने वाली प्रजा के प्रति उनके दायित्व का बोध करावेंगे।

1937 में टिहरी के राजा ने उन्हें एक सम्मानित पद पर कार्य करने के लिए आमन्त्रित किया। श्री सुमन को लगा जैसे किसी ने उनके घावों पर नमक छिड़क दिया हो। उन्होंने उत्तर दिया, "कोई भी सरकार मुझे खरीदकर अपने पथ से विचलित नहीं कर सकती। मैं चाहता हूँ कि मेरा देश शीघ्र आजाद हो और अंग्रेज तथा आप जैसे उनके पिटू शीघ्र ही यहाँ से विदा हो जायें।"

दिल्ली आकर श्री सुमन ने अपने अध्ययन को पुनः चालू करने और विद्यार्थियों से सतत सम्पर्क की कामना से जामिया मिलिया में दाखिला ले लिया। अभी दो-चार महीने ही हुए थे कि उनके पीछे खुफिया पुलिस लग गयी। उन्होंने सोचा कि लम्बी जेलयात्रा से उनके कार्य में अन्नराल पड़ जायेगा, अतः वे अपने जन्मस्थान जैल ग्राम चले गये। उन्हीं दिनों श्री जवाहरलाल नेहरू टिहरी आये। श्री सुमन को इसी मौके की तलाश थी। चूँकि श्री नेहरू श्रीनगर (गढ़वाल) में ठहरे थे, अतः श्री सुमन वहाँ पहुंच गये। उनके विशद वर्णन और उनकी मानसिक परेशानी को देखकर नेहरूजी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने एक सार्वजनिक भाषण में रियासत के लोगों के दुःखों की ओर सदाका ध्यान आकर्षित किया और श्री सुमन के प्रयासों की प्रशंसा

की। 23 फरवरी, 1939 को देहरादून में टिहरी राज्य प्रजामण्डल की स्थापना हुई। फरवरी में लुधियाना में होने वाले अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद अधिवेशन में श्री सुमन पर्वतीय देशी राज्यों के प्रतिनिधि के रूप में पधारे। उस समय उनकी आयु केवल चौबीस वर्ष थी।

श्री सुमन अपने कार्यों और गुणों के कारण अखिल भारतीय नेताओं के विश्वासपात्र बन गये थे। आन्दोलन के संचालन में कोई कठिनाई न आये इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी को कन्या गुरुकुल, कनखल में प्रविष्ट करा दिया और पूरे मनोयोग से देशसेवा के कार्य में लग गये। टिहरी राज्य को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर वे बगावत की राह पर चल पड़े। श्री सुमन का नारा था, "भारतीय राजाओं, अंग्रेजों से नाता तोड़ो।" उन्हें 19 नवम्बर, 1942 को गिरफ्तार कर आगरा भेज दिया गया जहाँ उन्हें बहुत यातनायें दी गयीं मगर उन्हें वज्र जैसा कठोर पाकर एक वर्ष बाद रिहा कर दिया गया। टिहरी आने पर उन्होंने फिर अपने भाइयों पर जुल्म का शिकंजा देखा और वे व्याकुल हो उठे। मगर तभी उन्हें फिर जेल में डाल दिया गया।

2 मई, 1944 को श्री सुमन आमरण अनशन पर बैठ गये। उन्होंने निश्चय किया कि जब तक राज्य के सभी बन्दी रिहा नहीं कर दिये जाते वे अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे। चौरासी दिन तक अनशन के बाद 25 जुलाई, 1944 को उन्होंने शरीर त्याग दिया। उनकी शहादत की खबर सारे देश में आग की तरह फैल गयी। लोगों में अंग्रेजों से अपने देश को आजाद कराने की लालसा और भी उत्कट हो उठी।

श्री सुमन का बलिदान सफल हुआ और तीन वर्ष एक माह बाद भारत स्वतन्त्र हो गया तथा देशी राज्यों की जनता वहाँ के आततायी राजाओं से मुक्ति पा गयी।

यशस्वी वीर सीताराम राजू

दक्षिण भारत के क्रान्तिकारी अल्लूर सीताराम राजू का नाम देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में स्वर्णक्षरों में अंकित है। अंग्रेजों ने इसे रंपा-फितूरी के नाम से पुकारा। रंपा के चार जनपदों में राजू को आज भी मुक्तिदाता के रूप में पूजा जाता है। उनका सम्बन्ध उत्तर भारत के प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों से तो था ही, वे गदर पार्टी के नेताओं से भी निकट का सम्बन्ध बनाये हुए थे। वीरता, साहस और बलिदान के उस पुतले का जन्म पश्चिम गोदावरी के एक जनपद में हुआ था और वहीं उन्होंने अपना बचपन बिताया। राजू की बुद्धि तीव्र और स्वभाव पश्चिमी था। बचपन से ही वह काफी निर्भीक और तेज़-तर्रार था। राष्ट्रप्रेम की भावनायें बचपन में ही उत्पन्न हो गयी थीं। कुछ जनसेवी महानुभावों के सम्पर्क में आने के कारण उसमें जनसेवा की भावना प्रबल हो गयी और वह अपने सार्वजनिक जीवन का निर्माण करने लगा। उसके क्रान्तिकारी साथियों में वीरैया दौरा, गाम मल्लू दौरा तथा गाम गहन प्रसिद्ध थे।

राजू ने जैसे ही होश संभाला उसने सर्वत्र निरीह लोगों का शोषण होते हुए देखा। उसने देखा कि उसके क्षेत्र के अंग्रेज अधिकारी और उनके भ्रष्ट मुसाहिब प्रत्येक नागरिक को चोर-लुटेरा और जंगली समझते थे। बेचारे गरीब लोगों को उनकी बेगार मुफ्त में दौनी पड़ती थी। राजू ने इस अमानवीय व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह का शंखनाद किया। उसके अदम्य उत्साह के कारण शीघ्र ही उसके सहयोगी संगठित होने लगे। उसने गांव-गांव घूमकर बरतानिया सरकार और उसके कारिन्दों के विरुद्ध जनमत तैयार करना शुरू कर दिया।

अनवरत अभ्यास के फलस्वरूप राजू ने तीरंदाजी और घुड़सवारी में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली। राजू जब अपने चाचा के साथ रहता था तब उसने जड़ी-बूटियों एवं हस्तरेखा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसने इन दोनों कलाओं का उपयोग लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने में किया। उसके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण था कि वह देखते-देखते लोगों का चहेता बन गया। उसकी लोकप्रियता चारों ओर की सीमायें पार कर चुकी थी। जिले के अंग्रेज अधिकारी कहा करते थे कि “जब तक सीताराम राजू जीवित है तब तक हम लोग चैन से नहीं बैठ सकते।” वास्तव में दक्षिण भारत में सीताराम राजू अंग्रेजों के लिए बहुत बड़ी चुनौती था।

राजू ने अंग्रेजी अदालतों का वर्चस्व कम करने के विचार से पंचायत राज्य कायम किया और ग्रामीण भाइयों को बताया कि उन्हें अंग्रेजों द्वारा स्थापित अदालतों में धक्के खाने की जरूरत नहीं। वे अपने सभी मामले आपस में मिल-बैठकर पंचायतों के माध्यम से ही सुलझा सकते हैं। राजू ने यह घोषणा भी कि गांव वाले भविष्य में लगान व अन्य कर तहसीलदारों को न देकर अपनी पंचायतों के प्रधान को ही दिया करेंगे। अंग्रेजों ने साम, दाम, दण्ड, भेद नीति से ग्रामवासियों को वश में करना चाहा किन्तु राजू के वशीकरण और उसके उत्सर्ग-भरे प्रभाव के आगे उनकी कुछ भी पार न पड़ी। अंग्रेजी हुकूमत ने तंग आकर राजू पर देशद्रोह का आरोप लगाकर उसे गिरफ्तार कर लिया। हुकूमत के भरसक प्रयासों के बावजूद कोई व्यक्ति अपने प्यारे रहनुमा के खिलाफ गवाही देने के लिए तैयार न हुआ। अन्ततः मजदूर होकर सरकार ने राजू को रिहा कर दिया।

जेल से छूटने के बाद राजू चैन से नहीं बैठा। उसने अपने प्रयासों को और तीव्र कर दिया और अपने आन्दोलन को आगे बढ़ाने में लग गया। उसे केवल एक ही धुन थी—अंग्रेजी शासन का सफाया। उसकी चार सौ नौजवानों की सैन्य राठू के ज़रा से इशारे पर कट मरने के लिए तैयार थी। कोई भी किसी नागरिक के साथ अन्याचार करने का दुःसाहस न कर पाता। राजू की इस बलिदानी सेना ने वैरिस्टवन जैसे अनेक नृशंस अधिकारियों को नाकों चने चढ़वा दिये थे।

क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिए नवीनतम हथियारों की बहुत आवश्यकता थी। राजू ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थानीय धानों पर कब्ज़ा करना शुरू कर दिया। विशाखापट्टनम का अंग्रेज कलेक्टर हर कीमत पर राजू और उसके साथियों को पकड़कर उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियों को समाप्त करना चाहता था। स्कॉटरलैंड यार्ड के विशेष प्रशिक्षण प्राप्त गुप्तचर इन आन्दोलनकारियों के पीछे लगाये गये। असम और केरल की फौजी पुलिस को भी राजू और उसके साथियों को कुचलने के लिए तैनात किया गया। हर आन्दोलनकारी के जीवित पकड़कर लाने वाले को दस हजार रुपये इनाम में देने की घोषणा भी की गयी।

उन दिनों राजू और उसके साथियों का पड़ाव गोदावरी के पास वाले जंगल में था। राजू के पीछे उसके खून के प्यासे फौजी घूमते देख वे उसे पकड़कर अंग्रेज अफसर के सामने ले गये। उस कमबख्त अंग्रेज अफसर ने राजू को देखते ही उन पर धड़ाधड़ गोलियां चलाती शुरू कर दीं। खून से लथपथ राजू 7 मई, 1924 को अपने लक्ष्य की प्राप्ति का अरमान लिये इस नश्वर संसार से विदा हो गया।

तरुणवीर कुंवर प्रतापसिंह बारहट

राजस्थान की भूमि वीरों की जननी है। इस प्रदेश के वीर और वीरांगनाओं की गाथायें सदैव ही क्रान्तिधर्मी लोगों को प्रेरणा देती रही हैं। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में जिन अनेक वीरों ने भाग लिया उनमें प्रमुख थे कुंवर प्रतापसिंह बारहट।

कुंवर प्रतापसिंह का जन्म सन् 1950 में उदयपुर राज्य में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा कोटा में हुई और बाद में उन्हें हाई स्कूल की पढ़ाई के लिए अजमेर भेज दिया गया। प्रतापसिंह के पिता श्री केसरीसिंह क्रान्तिकारियों के नेता थे। वे राजस्थान के धनी परिवारों में अग्रणी थे किन्तु उनकी प्रचण्ड देशभक्ति ने उन्हें सब कुछ लुटा डालने के लिए बाध्य कर दिया था। क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण केसरीसिंह को आजन्म काले पानी की सजा मिली। उनके भाई और अन्य सम्बन्धियों की जायदाद जब्त कर ली गयी और उन्हें अनेक अमानवीय यातनायें दी गयीं।

कुंवर प्रतापसिंह और उनके वहनोई को दिल्ली बमकाण्ड में गिरफ्तार कर लिया गया किन्तु ठोस सबूत न होने के कारण फांसी नहीं दी गयी। सारे परिवार में प्रतापसिंह की मां ही घर में अकेली रह गयीं। इधर प्रतापसिंह अपने मिशन को साकार करने के लिए शचीन्द्रनाथ सान्याल के साथ दिल्ली आ गये और अवधबिहारी की गिरफ्तारी से हुई क्रान्तिकारी शिथिलता को समाप्त कर स्वतन्त्रता-प्राप्ति की तैयारी में लग गये। इस समय तक प्रतापसिंह का कार्यक्षेत्र दिल्ली, यू० पी०, पंजाब, राजस्थान हो गया था।

विष्णु गणेश पिंगले के गिरफ्तार हो जाने पर दल का भार शचीन्द्रनाथ सान्याल पर आ पड़ा। शचीन्द्रनाथ सान्याल प्रतापसिंह को लेकर कलकत्ता चले गये। प्रतापसिंह को अपनी कर्मभूमि से अलग रहना उचित न लगा। वे राजस्थान लौट आये। अनेक पड़यंत्रों में उनका हाथ होने के कारण उनके कई वारण्ट उनका पीछा कर रहे थे। वक्त की नजाकत देखकर वे हैदराबाद (सिन्ध) चले गये और छद्म वेश में कम्पाउण्डर का काम करने लगे। उनके शब्द क्रान्ति की भाषा से भरे होते, उनके नुस्खों के साथ बम बनाने के नुस्खे भी होते थे। पुलिस को उनकी गतिविधियों का भान हो गया। इसकी भनक पाकर वे वहां से बीकानेर के लिए रवाना हो गये जहां वे अपने एक उच्चपदस्थ रिश्तेदार के पास रहे।

पंजाब को प्रतापसिंह की आवश्यकता महसूस हुई। भूख, जागरण और गर्मी सहन करते हुए वे आसानाडा स्टेशन पहुंचे जहां का स्टेशन मास्टर उनका परिचित था। कुछ आराम करने के विचार से वे वहां उतर गये। पुलिस ने स्टेशन मास्टर को लालच देकर अपनी ओर कर लिया। उसने प्रताप को देखकर कहा, "तुम पुलिस से बचना चाहते हो और नौद भी पूरी करना चाहते हो तो तुम मेरी कोठरी में जाकर सो जाओ। मैं बाहर से ताला लगा देता हूँ जिससे किसी को शक न हो।"

विश्वासघाती स्टेशन मास्टर ने सो जाने पर प्रतापसिंह की पिस्तौल और अन्य अस्त्र निकाल लिए जिससे पुलिस के आने पर उन्हें स्वयं को असहाय देख आत्मसमर्पण करने के सिवा और कोई बात न सूझे। उसके फोन करने पर पुलिस दल-बल के साथ वहां आ पहुंची। वह ताला खोल उन पर दूट पड़ी और उन्हें गिरफ्तार कर लिया।

प्रतापसिंह को तरह-तरह के कष्ट देकर सताया गया किन्तु उन्होंने सच्चे क्रान्तिकारी की तरह कोई भी भेद देने से इन्कार कर दिया। उनका शरीर मानो लोहे का बना था। कोई जोर न चलते देख पुलिस ने उन्हें प्रलोभन देना शुरू कर दिया और कहा कि उनकी सभी जायदाद लौटा दी जायेगी और उनके पिता, चाचा और बहनोई को रिहा कर दिया जायेगा। उनकी माता की दीन-दशा की कहानी भी उन्हें विस्तारपूर्वक सुनाई गयी।

एक दिन पुलिस से उनकी तीन घण्टे तक बात हुई। प्रतापसिंह ने कहा "मुझे एक दिन का समय दिया जाये।" दूसरे दिन जब पुलिस-अधिकारी मिलने आये तो प्रताप ने कहा, "मैंने अपनी मां, पिता और अन्य सम्बन्धियों की दशा पर बहुत गौर किया मगर मुझे लगा कि मेरी मां, मेरे पिता और अन्य बन्धु बन्धवों की तरह वर्षों तक गुलामी का जीवन बिताने वाले मेरे देशवासी भी मुझे अपने कर्तव्य की ओर प्रेरित कर रहे हैं। मेरा दृढ़ निश्चय है कि मुझे अग्नि में जला दिया जाये तो भी मैं अपने साथियों के साथ विश्वासघात नहीं करूंगा।"

प्रतापसिंह को बरेली जेल में ठूस दिया गया जहां 25 वर्ष के इस नौजवान को असहनीय यातनायें दी गयीं। 1975 की वैशाख पूर्णिमा को भारत मां की बलिबेदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर वह वीर इस संसार से सदा के लिए विदा हो गया। शरीर का त्याग करते समय उन्होंने कहा—

“त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम मातृभूमि ।”

वीरवती यतीन्द्रनाथ दास

देश की जंगे आजादी के लिए जो वीर अपने बाल्यकाल में ही जाग उठा था वह 25 वर्ष की अल्प आयु में शहीद होकर सदा के लिए सो गया। उसका इस तरह से जाना समूचे देश को जगा गया और आज भी उसकी याद हमें अपने देश के प्रति जागते रहने का संदेश दे रही है। इस वीर का नाम था यतीन्द्रनाथ दास।

यतीन का जन्म सन् 1904 में कलकत्ता के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके पिता बंकिम बिहारी दास राजनीति से पूरी तरह अछूते थे। बालक यतीन की शिक्षा-दीक्षा कलकत्ता में ही हुई। वे बंगला, हिन्दी और अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। सन् 1920 में यतीनदास एन्ट्रेंस की परीक्षा ही पास कर पाये थे कि देश के अन्दर असहयोग आन्दोलन का बिगुल बज उठा। नवयुवक यतीनदास पर इस आन्दोलन का भारी असर हुआ। साहस व वीरता उनमें कूट-कूटकर भरी थी अतः वे पढ़ाई छोड़कर पिता की अनुमति लिये बिना इस देशव्यापी आन्दोलन में कूद पड़े। पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और एक महीने कैद में रखा। जब वे जेल से छूटकर आये तो पिता ने कहा—“यदि तुम्हें यही सब करना है तो जाओ मेरे घर मत आना मैं समझ लूँगा कि तुम मर गये।” यतीन ने कहा—“पिताजी! पढ़ाई प्रतीक्षा कर सकती है पर स्वाधीनता एक मिनट भी प्रतीक्षा नहीं कर सकती इसलिए मैं इस रास्ते से वापिस नहीं आ सकता।”

जेल से छूटने पर यतीन बाढ़-पीड़ितों की सेवा में जुट गये और वहां से फारिंग हुए तो तारकेश्वर सत्याग्रह में भाग लेने लगे। परिणामतः उन्हें तीन महीने की बामशक्त सजा हुई। जब यतीन जेल गये तो यह फैसला करके गये कि अब घर नहीं लौटना है, निरन्तर संग्राम करके या तो अपने देश को गुलामी के शिकंजे से मुक्त करना है या खुद को मिटा देना है। गिरफ्तार होने पर यतीनदास कभी नहीं घबरते थे! जेल की यातनायें उन्हें उनके मार्ग से विचालित नहीं कर पाती थीं। वे उन यातनाओं को सहन करने के आदी हो गये थे।

जब भी यतीन जेल से बाहर आते वे देशसेवा के कार्यों में जुट जाते और अपनी पढ़ाई को भी जारी रखने का प्रयास करते। इन्हीं दिनों यतीन का परिचय प्रसिद्ध क्रान्तिकारी राजेन्द्र लाहिड़ी से हुआ जो बाद में वनिष्ठता में परिवर्तित हो गया। यतीन

स्वयं कलकत्ता रिपब्लिकन दल के सदस्य बन गये। उन्होंने समय-समय पर काशी जाना शुरू कर दिया और लाहिड़ी के कार्यों में हाथ बंटाना भी अपना दैनिक कार्य बना लिया। जिन लोगों ने यतीन को काशी में देखा था वे कहते थे कि यतीन बहुत शान्त स्वभाव के थे। बोलते बहुत कम थे पर अपनी धुन के बहुत पक्के थे।

राजेन्द्र लाहिड़ी के पास आने-जाने के कारण उन्हें 1925 में हुई ककरोरी ट्रेन डकैती के कारण सन्देशवश बन्दी बना लिया गया और गिरफ्तार कर कलकत्ता की जेल में रखा गया। उनकी पहचान के लिए एक मुखविर को लखनऊ से कलकत्ता जेल में लाया गया। उसने यतीन को कभी देखा न था अतः वह उनकी पहचान न कर सका, फलतः उन्हें जेल से रिहा कर दिया गया। लेकिन बंगाल आर्डनेंस में पुनः बन्दी बना लिया गया। बंगाल की जेलों में उनके साथ बहुत अमानवीय व्यवहार किये गये। जब उन दुर्व्यवहारों की जोरदार निन्दा होने लगी तो उन्हें बंगाल से हटाकर पंजाब की मियांवाली जेल में भेज दिया गया। सरकार यतीन दास को एक खतरनाक कैदी मानती थी अतः वह उन्हें अत्याचारों की आग में डालकर भस्म कर देना चाहती थी।

1926 से लेकर 1929 के बीच देश में कई क्रान्तिकारी घटनाएँ घटीं। रामप्रसाद बिस्मिल, लाहिड़ी, रोशनसिंह और अशफ़ाक उल्ला आदि वीरों को फाँसी दे दी गयी इन्हीं दिनों भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने संसद में बम फेंककर चारों ओर सनसनी पैदा कर दी और लाहौर में लाला लाजपत राय पर लाठी चलाने वाले साण्डर्स की हत्या कर दी। यतीन का इन घटनाओं से कोई सम्बन्ध था या नहीं पर 1928 के जून मास में उन्हें बन्दी बना लिया गया और लाहौर जेल में डाल दिया गया। भगत सिंह और दत्त को इससे पहले ही बन्दी बनाया जा चुका था।

यतीन को लाहौर पड़यन्त्र केस में गिरफ्तार किया गया और लाहौर जेल में रखा गया। वहाँ कैदियों के साथ अच्छा बरताव नहीं किया जाता था अतः भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त ने अनशन शुरू कर दिया। सरकार ने जब उनके अनशन की कोई परवाह न की तो 13 जुलाई, से सभी क्रान्तिकारियों ने अनशन शुरू कर दिया। उन अनशनकारियों में यतीन्द्रनाथ दास भी थे। अनशन शुरू होने से पूर्व यतीन ने अनशन के लिए रजामन्दी नहीं दिखाई, वे पहले भी अन्य जेल में इक्कीस दिन का अनशन कर चुके थे और जेलर से माफ़ी मंगवा चुके थे। उन्होंने अपने साथियों को यही कहा कि अनशन हंसी-खेल नहीं है। सोच-समझकर इस मार्ग पर पैर रखना चाहिए क्योंकि एक बार अनशन शुरू कर हमारा यह कौल होना चाहिए कि या तो हम सिद्धि प्राप्त करें या फिर मौत का आलिगन बेखौफ़ कर अपने मनोबल का परिचय दें।

इन बागियों का यह अनशन इतना महत्त्व प्राप्त कर चुका था कि सारे देश में सरकार के दमन की निन्दा की जाने लगी थी। इन कैदियों को जबरदस्ती नाक

के सुराख में नली डालकर दूध पिलाने की क्रिया को श्री जवाहरलाल नेहरू ने निन्दनीय कार्य बनाया और क्रान्तिकारियों के प्रेरणाश्रोत गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने पत्र 'प्रताप' में सम्पादकीय पर सम्पादकीय लिखकर सारे देश के वातावरण को क्रान्तिमय बना दिया। वे स्वयं लाहौर जेल गये और उन्होंने अनशनकारियों से अनशन तोड़ने का आग्रह भी किया। किन्तु वे न माने। 21 अगस्त को श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन यतीन से मिलने लाहौर गये। वे साथ में भगतसिंह को भी लेते गये। यतीन ने टण्डनजी की मध्यस्थता से साफ इन्कार कर दिया और भगतसिंह को डांटा कि तुम्हें इनके साथ आकर मेरे ऊपर इस प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहिए। सरकार की ओर से कई चालें चलीं गयीं। दो विज्ञप्तियां भी प्रकाशित की गयीं। तत्कालीन गवर्नर भी लाहौर पहुंचा पर कुछ लाभ नहीं हुआ। आखिर जांच कमेटि बनाई गयी और 3 सितम्बर को कुछ समझौता हो गया। यतीन को छोड़कर सभी क्रान्तिकारियों ने अनशन तोड़ दिया। 24 अगस्त को उन्होंने कहा कि देहान्त के बाद उनका शरीर कलकत्ता भेजा जाये। जब उनकी अवस्था बहुत बिगड़ गयी तो सरकार से उन्हें छोड़ देने के लिए कहा गया किन्तु सरकार ने उन्हें जमानत पर छोड़ने की शर्त रखी। यतीन ने जमानत पर छूटने से इन्कार कर दिया। 13 सितम्बर को दिन के एक बजे क्रान्तिकारी यतीन्द्रनाथ दास की नश्वर देह का अन्त हो गया और शहीदों की परम्परा में एक और गौरवपूर्ण नाम जुड़ गया।

इस वीर नौजवान की लाश हावड़ा भेजी गयी। हर स्टेशन पर अपार भीड़ थी। स्टेशन पर उनकी मां वासुकी देवी और सुभाषचन्द्र बोस भी उपस्थित थे। शमशान जाते-जाते जनता की भीड़ 6 लाख तक पहुंच चुकी थी। महाकवि दिनकर ने यतीन्द्रनाथ को श्रद्धांजलि अर्पित की जिसकी अन्तिम पंक्तियां थी :-

‘मां रोती वहनें कराहतीं घर-घर व्याकुलता जागी
उपल सरीखे पिघल-पिघल तुम किधर गए मेरे बागी ।’

अजेय पौरुष के धनी लाला हनुमन्त सहाय

लाला हनुमन्त सहाय क्रान्ति के अनन्य पुजारी थे। उग्र राष्ट्रीयता उन्हें विरासत में प्राप्त हुई थी। 1857 की क्रान्ति के बाद उनके बुजुर्गों के घर नष्ट कर दिए गये थे और उनके परिवारजनों को चुन-चुनकर मार डाला गया था। वंशानुगत देशप्रेम के साथ-साथ हनुमन्त सहाय को सन् 1907 में क्रान्ति के महानायक वीर सावरकर से प्रेरणा भी प्राप्त हुई थी।

अंग्रेजों ने बंगाल के भय से राजधानी दिल्ली में बनाए जाने का ऐलान किया। यद्यपि प्रिंस ऑफ वेल्स ने भारत आगमन पर बंग भंग की योजना रद्द कर दी तथापि बंगाल में राजधानी बनाये रखने से वे बहुत घबराते थे। उनका निर्णय उस वक्त ठीक न निकला जब 1912 में वाइसराय लार्ड हार्डिंज पर बम फेंका गया। तब अंग्रेजों को लगा कि दिल्ली भी कम खतरनाक नहीं।

लार्ड हार्डिंज बच गया किन्तु बम के धमाके ने सारे देश को जगा दिया। बरतानिया सरकार समझ गयी कि भारत के लोग जुल्म और सितम से घबराने वाले नहीं हैं। बम बनाने वाले और फेंकने वाले चारों क्रान्तिकारी मास्टर अमीरचंद, मास्टर अवध बिहारी, बालमुकुन्द और वसंत कुमार फांसी पर चढ़ा दिये गए। समूचा देश रोष और आक्रोश से उबल उठा।

लाला हनुमन्त सहाय हार्डिंज पर बम फेंकने की योजना के प्रमुख आयोजक थे। बम फेंकने के बाद एक सौ से अधिक गिरफ्तारियां हुईं। हनुमन्त सहाय फरार हो गये किन्तु उन पर मुकदमा चला और उन्हें काले पानी की सज़ा दी गयी। उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। कुछ दिन बाद उन्हें भारत लाया गया। जेल में उन्हें भीषण यातनायें दी गयीं। उनके पैरों में बेड़ियां पड़ी रहती थीं और उन्हें लोहे की छड़ों से पीटा जाता था। उन्हें महीनों बन्द और अंधेरी कोठरी में डाल कर रखा गया। जहरीली दवायें पीने को दी गयीं। वजन 132 पौंड से घटकर 80 पौंड रह गया। रावल पिंडी जेल का सुपरिन्टेंडेण्ट बड़ा जालिम इंसान था। वह लालाजी को इतना मारता कि उनकी देह सूज जाती थी। उसका दम्भपूर्ण कथन होता कि हनुमन्त सहाय तुम दिल्ली का बदमाश है तो हम लन्दन का बदमाश है।

लालाजी को जो जहरीली दवाइयां दी गयीं वे उन्हें जान से तो न मार सकीं किन्तु उनकी स्मरण शक्ति एकदम क्षीण हो गयी और वे अपने घर-परिवार के लोगों का नाम तक याद न रख सके।

के सदस्यों ने एक ऐसी सभा के शामिलियाने में भी आग लगा दी जो अंग्रेजी शासन की प्रशंसा के लिए बुलाई गयी थी। उन्होंने बम्बई में विक्टोरिया की मूर्ति के मुख पर कालिख पोतकर उसके गले में जूतों की माला डाल दी। दामोदर और उनके साथियों के इन कामों से सरकारी हत्कों में सनसनी फैल गयी। इन कामों के पीछे जुटे हुए लोगों का पता लगाने के लिए गुप्तचर तैनात कर दिये गए। चारों तरफ गुप्तचरों के जाल बिछे थे। चारों ओर पुलिस का पहरा रहता था फिर भी कोई न कोई घटना घट ही जाती थी।

उन्हीं दिनों 1897 में पूना में प्लेग की महामारी फैली। जिन घरों में चूहे मरे थे उन घरों को खाली करवा लिया गया। किन्तु अंग्रेज सरकार अन्य लोगों को भी घर खाली करने पर मजबूर करने लगी जिनसे उसे भय था। घर खाली न करने पर लोगों पर मनमाने अत्याचार किये जाते थे। इस काम के लिए सरकार ने वाल्टर चार्ल्स रैंड नाम का एक अंग्रेज अफसर नियुक्त किया जो बहुत अत्याचारी था। वह गाली-गलौज तो करता ही था स्त्रियों की मान-मर्यादा को कलुपित करने से भी नहीं चूकता था।

रैंड के अत्याचारों से चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी। लोकमान्य तिलक जैसे बड़े नेताओं ने सरकार को विरोध-पत्र भेजे, किन्तु सरकार तो पूर्व नियोजित पड्यन्त्र के अन्तर्गत रैंड को पूना लाई थी अतः उसने उसे उक्त पद से हटाने की बात ही नहीं सुनी।

चाफेकर व उनके साथी किरकी शस्त्रागार में काम करने वाले जोन्स क्लर्क की सहायता से काफ़ी गोला बारूद और शस्त्रास्त्र इकट्ठे करने में सफल हो गये। महादेव विनायक रानाडे साइन्स के विशेषज्ञ थे। बन्दूक, पिस्तौल और बम बनाना उनके बायें हाथ का काम था। क्रान्तिकारी दल ने रैंड को गोली का निशाना बनाने का निश्चय किया। 12 जून, 1897 को पूना में शिवाजी की वर्षगांठ मनाई गयी। भारतीय क्रान्तिकारियों ने इस अवसर पर बड़े ओजस्वी भाषण दिये और अंग्रेजों के काले कारनामों की निन्दा की। लोकमान्य तिलक ने नवयुवकों को सम्बोधित करते हुए कहा:- “हमारे नवयुवकों में पुरुषत्व नहीं रहा। अन्यथा रैंड जैसे अंग्रेज अत्याचारी की हिम्मत ही न होती कि वह हमारी ओर आंख भी उठा सकता।” उनके भाषण ने नवयुवकों में ऐसा जोश भर दिया कि वे रैंड की हत्या में किसी भी प्रकार का विलम्ब न सह सकें। 21 जून, 1897 को महारानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती मनाई गयी। रैंड और उनके साथी इस समारोह में सम्मिलित हुए। आजादी के दीवाने भेप बदलकर सशस्त्र एकत्रित हो गये। जब रैंड अपने घर वापिस जा रहा था तभी चाफेकर और उनके साथियों ने उसे अपनी गोली का निशाना बनाया और उसी स्थान पर डेर कर दिया। इस घटना की खबर चारों ओर बिजली की तरह फैल गयी। सरकार ने अपराधी को पकड़ने के लिए बीस हजार का इनाम घोषित किया। एक देश-द्रोही

